संपादक
संजय सहाय
विशेष सहयोग
इब्बार रब्बी
प्रबंध निदेशक
रचना यादव
कार्यालय व्यवस्थापक
वीना उनियाल
प्रसार एवं लेखा प्रबंधक
हारिस महमूद
शब्द-संयोजन
सुभाष कश्यप
कार्यालय सहायक
किशन कुमार, दुर्गा प्रसाद
मुख्य विज्ञापन प्रतिनिधि (उ.प्र.)
राजेन्द्र प्रसाद जायसवाल
रेखाचित्र
सैली बलजीत, रोहित प्रसाद
अनुभूति गुप्ता

कार्यालय
अक्षर प्रकाशन प्रा. लि.
2/36, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-2
संजय सहाय : 8800229316
दूरभाष : 011-41050047, 23270377
ईमेल : editorhans@gmail.com
वेबसाइट : www.hanshindimagazine.in

मूल्य : 40 रुपए, वार्षिक : 400 रुपए
संस्था और पुस्तकालय : 600 रुपए
आजीवन : 10,000 रुपए
विदेशों में : 70 डॉलर
सारे भुगतान मनीऑर्डर/चैक/बैंक ड्राफ्ट द्वारा अक्षर प्रकाशन प्रा. लि. (Akshar Prakashan Pvt. Ltd.) के नाम से किए जाएं.

हंस/अक्षर प्रकाशन प्रा. लि. से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे. अंक में प्रकाशित सामग्री के पुनर्प्रकाशन के लिए लिखित अनुमति अनिवार्य है. हंस में प्रकाशित रचनाओं में विचार लेखकों के अपने हैं उनसे हंस की सहमति अनिवार्य नहीं है. साथ ही उनके मौलिक या अप्रकाशित होने का उत्तरदायित्व भी संपादक और प्रकाशक का नहीं है.
प्रकाशक-मुद्रक : **रचना यादव खन्ना** द्वारा अक्षर प्रकाशन प्रा. लि., 2/36, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 के लिए प्रकाशित तथा एम.पी. प्रिंटर्स (प्रो. भास्कर इंडस्ट्रीज लि.) बी-220, फेज-II नोएडा (उ.प्र.) से मुद्रित. संपादक–संजय सहाय

'केंद्रीय हिंदी संस्थान', आगरा से सहयोग प्राप्त

मूल संस्थापक : **प्रेमचंद : 1930**
पुनर्संस्थापक : **राजेन्द्र यादव : 1986**

पूर्णांक-404 वर्षः34 अंकः11 जून 2020

आवरण : बंशीलाल परमार

हंस

जनचेतना का प्रगतिशील कथा-मासिक

इस अंक में

अपनी बात
4. कुहासा छंटने तक... : **रचना यादव**

अपना मोर्चा
6. पत्र

मुड़-मुड़ के देख
10. सूर्यपूजा : भुवनेश्वर

न हन्यते
12. पाऊं कहां हरि हाय तुम्हें : राकेश रंजन
40. तत्त्वाभिनिवेशी आलोचक नंदकिशोर नवल : योगेश प्रताप शेखर
15. वह एक ऐसी सतह पर था जिसके ऊपर उठना ही नहीं चाहता था : प्रभात रंजन

कहानियां
18. मृत्यु : ज्ञानरंजन
22. काहे होत अधीर : उषा किरण खान
32. बुखार : प्रियदर्शन
44. होरी खेलूंगी कह कर बिस्मिल्लाह : अनिल चौधरी
60. राष्ट्रपति का दत्तक : कामेश्वर
66. मुर्दा लोगों के बीच : सैली बलजीत
75. बद्धनवा नाऊ के लऊंडा सलमनवा : फ़रज़ाना महदी
82. सांप-बिच्छू : केसरा राम (पंजाबी कहानी) (अनुवाद : अमरीक सिंह दीप)

कविता
30-31. वर्षा, मनोज तिवारी

कथेतर
53. हम तेरे शहर आए मुसाफिर की तरह : पल्लव

आराम नगर
73. इरफान : अदाकारी की इब्तिदा और इंतिहा : जाहिद खान

घुसपैठिये
79. कोरोना डायरी : : जेबा खातून/अमन

लघुकथा
94. नीरज त्यागी

ग़ज़ल
42. सलीम ख़ां फ़रीद, अनिल 'मानव'

परख
90. रोमांच और रोमांस की तलाश में भटकती युवा पीढ़ी : साधना अग्रवाल
92. नाजिम हिकमत के देश में : अंकित नरवाल

शब्दवेधी/शब्दभेदी
95. कोरोना चिंता : तसलीमा नसरीन

कुहासा छंटने तक...

रचना यादव

2013 के बाद मैं जब हंस से जुड़ी तो कई बार अलग-अलग लोगों को यह कहते पाया कि 1986 से आज तक हंस निर्बाध रूप से निकलता आया है. एक भी महीना ऐसा नहीं गया होगा जब हंस न निकला हो. चाहे बाबूजी दिल्ली से बाहर हों, या बीमार हों, लंबी अवधि के लिए अस्पताल में हों, या फिर आंखों के ऑपरेशन के बाद उन्हें पढ़ने-लिखने से मना किया गया हो—हंस तो उन्होंने निकाला ही. ऐसा हिंदी साहित्यिक पत्रिका तो क्या अच्छी से अच्छी पत्रिकाओं के लिए संभव नहीं हो पाया है.

गाहे-बगाहे जब इस बात का जिक्र आता, चाहे किसी भी संदर्भ में हो, मुझे ऐसा लगता जैसे मुझे ही सुनाया जा रहा है. लगभग इस भाव से—"कर पाओगी यह! या अब तुम्हारे आने से यह रिकॉर्ड टूटेगा?" तो बस, अनावश्यक रूप से यह दबाव मैंने अपने सर पर ले लिया. सोच लिया कि चाहे कुछ भी हो जाए, हंस को नियमित निकालेंगे. बीच में कई बार आर्थिक संकट आए, मेरी दूसरी व्यस्तताओं ने मुझे आ-आ कर घेरा, संजय जी की तबियत एक चिंता का विषय बनी, पर किसी तरह हंस परिवार के सभी सदस्यों ने मिलकर हर बाधा पार कर ही ली.

और तब आया करोना वायरस का संकट. ऐसा संकट जो हमने न कभी सोचा था, न देखा था. 20 मार्च को जब हम हंस के कार्यालय में थे, तो इस बात का दूर-दूर तक अनुमान नहीं था कि आज के बाद अगले कुछ महीनों तक हम कार्यालय नहीं आएंगे. हम तो सिर्फ तीन से चार दिन के अवकाश के इरादे से निकले थे. अप्रैल अंक प्रेस में जाने के लिए तैयार था, सोचा था 23 या 24 मार्च को वापस कार्यालय आकर भेज देंगे. और इसी आशा से हमने कार्यालय से कोई भी कागज-पत्तर, फाइलें, पेन ड्राइव इत्यादि नहीं उठाए. सारी चयनित रचनाएं, रेखाचित्र, कवर डिजाइन सब ऑफिस के कंप्यूटर में. अब जब लॉकडाउन 22 मार्च से बढ़कर 31 मार्च तक लागू हुआ, तब भी लगा कि अप्रैल अंक मेल द्वारा प्रेस में भेज देंगे और 1 तारीख को जैसे ही सब खुलेगा, हम अंक प्रेस से मंगवाकर पैकिंग शुरू कर देंगे. धीरे-धीरे जो स्थिति उभरी, उससे यह तो समझ आ गया कि ऐसा कुछ नहीं होने वाला है. अप्रैल अंक की प्रेस में जाने की कोई संभावना नजर नहीं आ रही थी. पर गनीमत थी की अंक की पीडीएफ हम सबके मेल पर थी. बहुत दुखी मन से उसे ऑनलाइन लगाने का निर्णय लिया गया. किसी तरह अपने को समझाया कि बस एक ही महीने की तो बात है. अंक तो हम निकाल ही रहे हैं—बेशक ऑनलाइन ही सही. पर भीतर से जानती थी कि हंस के पुनर्जीवन काल में ऐसा पहली बार घटित होने वाला था कि हंस मुद्रित रूप में नहीं आ पा रहा था. और सच कहूं तो इस बात से समझौता करने में मुझे काफी कठिनाई हुई. अभी तक इसे पूरी तरह स्वीकार नहीं कर पा रही हूं.

अप्रैल अंक ऑनलाइन लगा. और अब हमें शुरू करनी थी मई अंक की तैयारी. समझ ही नहीं आया यह किस तरह की जाएगी. सारी चयनित रचनाएं तो कार्यालय की फाइलों में दबी पड़ी थीं. लॉकडाउन एकदम चरम पर था—कर्फ्यूनुमा. किसी का घर से निकलना तक संभव नहीं था. दिल फिर बैठ गया. तब लगा अप्रैल तो किसी तरह निकल गया, पर मई अंक तो शत-प्रतिशत रद्द करना पड़ेगा. न छपेगा और न ही ऑनलाइन लग पाएगा. चौंतीस साल, चार सौ दो अंक निकालने के बाद, हंस का चार सौ तीनवां अंक नहीं निकलेगा. क्यों? क्योंकि हम आज के समय की चुनौती नहीं झेल पाए. समय से अपने आप को व्यवस्थित नहीं कर पाए. बाबूजी की आवाज उनके लहजे में मेरे कानों में गूंज रही थी—"क्या यार टिंकू, बहुत जल्दी हार मान जाती हो तुम. कोई रास्ता निकालो" ...वही चुनौती भरा स्वर जो अक्सर वे तीर की तरह फेंकते थे जब

उन्हें किसी से कोई काम करवाना होता था.

संजय जी और वीणा जी के साथ लंबी बातचीत हुई. विचार किया गया. मेरा बस यही आग्रह था कि अंक हम किसी भी तरह निकालें. चाहते तो हम तीनों यही थे. बस प्रश्न यही था कि सामग्री कैसे एकत्रित की जाए. वीणा जी का 'चलो कुछ करते हैं दीदी' बोलकर फोन रख देना मेरे हौसले के लिए काफी था. तो बस, फिर जैसे-तैसे करके मई का अंक भी निकला. नहीं, जैसे-तैसे करके नहीं, अपनी पूरी गरिमा के साथ निकला. और इसका पूरा-पूरा श्रेय वीणा उनियाल जी और शब्द-संयोजक सुभाष जी को जाता है. संजय जी के दिशा-निर्देश में और अपनी स्मृति से वीणा जी ने चयनित रचनाओं की सूची बनाई. उन लेखकों से मेल द्वारा रचनाएं दोबारा मंगवाईं. कतार से इतर कुछ नई रचनाओं का भी चयन करना पड़ा. किसी तरह सामग्री तो एकत्रित कर ली गई, पर सुभाष जी के घर का कंप्यूटर धोखा दे गया. सब दुकानें बंद. ठीक कराने का सवाल ही नहीं उठता था. हम फिर धराशायी हुए. रात को गलियों में छुपते-छुपाते वे अपना कंप्यूटर तकनीशियन के पास ले गए. कंप्यूटर और हमारी, दोनों की जान वापस आई. पृष्ठ कंपोज किए गए. वीणा जी ने, जिनके घर में कंप्यूटर उपलब्ध नहीं है, फोन की स्क्रीन पर बहुत दिक्कत, पर पूरी शिद्दत से पत्रिका के प्रूफ पढ़े. और यहां कह सकती हूं की जैसे-तैसे पत्रिका फिर तैयार थी जिसे अतुल (हमारा सोशल मीडिया कार्यकर्ता) ने तुरंत ऑनलाइन उपलब्ध कराई. इस पूरी प्रक्रिया में शायद मेरा योगदान तो बस मेरी अच्छी किस्मत का था कि मुझे हंस के प्रति ऐसे समर्पित लोगों का साथ मिला, जिनके कारण मैं अपने आप से किए हुए वादे का पालन कर पाई.

अब स्थिति यह है कि आज हम तीसरा अंक (जून 2020) ऑनलाइन लगा रहे हैं. आगे न जाने और कितने अंक बस कंप्यूटर या फोन की स्क्रीन में ही सिमटकर रह जाएं.

माहौल गंभीर है. ऐसी पत्र-पत्रिकाओं का भविष्य धुंधला होता नजर आ रहा है. जहां पत्रिका की सारी सामग्री कंप्यूटर की स्क्रीन में सिमट गई है, वहीं पाठक वर्ग भी बहुत सिकुड़ गया है. शायद हमारा पाठक अभी भी पत्रिका को अपने हाथ में महसूस करना चाहता है. पन्ने-दर-पन्ने पलटकर पढ़ने का आनंद लेना चाहता है. छपे हुए अक्षरों की स्याही की महक को अंदर तक खींच लेना चाहता है. पर अब वह समय कब वापस आएगा, कुछ कहा नहीं जा सकता. जहां स्कूल-कॉलेज की कक्षाएं ऑनलाइन चल रही हैं, बड़ी से बड़ी राजनैतिक और कॉर्पोरेट मीटिंग्स ऑनलाइन हो रही हैं, वहां हमारे पाठक को भी शायद अब ऑनलाइन पत्रिका पढ़ने की आदत डालनी होगी.

आज के दिन जब मैं बैठकर यह लिख रही हूं, करोना अपनी पूरी रफ्तार से बढ़ रहा है. पर अब लॉकडाउन में ढील आ गई है. लोगों का आना-जाना बढ़ रहा है. कई कार्यालय खुल गए हैं. प्रिंटिंग प्रेस चालू हैं. लेकिन हंस के सामने चुनौतियां और बढ़ गई हैं. छपवाएंगे, तो वितरण कैसे होगा? यातायात और डाक सेवाएं पूर्ण रूप से चालू नहीं हैं. वितरण होगा तो पत्रिका किसके पास जाएगी? कई विक्रेता दुकाने बंद करके चले गए हैं. कुछ ने तो खाने-पीने और मोबाइल इत्यादि की दुकानें खोल ली हैं. हमारी अर्थ व्यवस्था कैसे चलेगी? विभिन्न प्रदेशों की सरकारों से जो विज्ञापन के जरिए सहायता आती थी, उसका क्या होगा? इन सब प्रश्नों ने हंस के भविष्य को लेकर मेरे मन में भी एक बहुत बड़ा प्रश्नचिह्न लगा दिया. और मैंने अपने आप को समझाने की प्रक्रिया आरंभ कर दी कि हमारी पूरी कोशिशों के बावजूद, हंस का भविष्य अनिश्चित है. बाबूजी की लगातार कानों में आती हुई आवाज को अनसुना करने की कोशिश करने लगी.

यही सब सोचते-सोचते, मैं जब एकदम हार मानने की कगार पर पहुंच गई, तब संजय जी, जिनके साथ उनके संशयवादी दृष्टिकोण को लेकर मेरा मतभेद चलता ही रहता है, (क्योंकि मैं प्रायः हर चीज को विश्वास के नजरिए से देखती हूं), का अचानक फोन आता है, और इस बार भूमिका पलटी हुई नजर आती है—संजय सहाय पूरे जोश से मुझे समझाते हैं—"रचना जी, हमें किसी तरह हंस को चलाना होगा. राजेन्द्र जी कुछ सोचकर ही पूरे भरोसे के साथ अपनी विरासत हमारे कंधों पर छोड़कर गए हैं. ऐसी स्थिति में हंस के पंख काटना तो एक तरह से अपनी हार को पंख देना है और मैं इसके लिए कतई तैयार नहीं हूं. आने वाला समय जो भी होगा, हम उसी के अनुसार अपने को ढालेंगे, पर हंस को जीवित रखेंगे."

जी हां. शायद यही है हंस परिवार की एकाग्र शक्ति. जब एक मायूस होता है तो दूसरे उसे उठाने के लिए उपस्थित रहते हैं. और इसके साथ ही जुड़ा है हमारे पाठकों का स्नेह.

हमारा मेल बॉक्स आज भी मुद्रित प्रति की सदस्यता के आग्रहपूर्ण मेल से भरा हुआ है. बस अपने पाठकों से यही अनुरोध करती हूं कि जब तक हम आपको मुद्रित प्रति उपलब्ध नहीं करा पाते हैं, कृपया पत्रिका ऑनलाइन डाउनलोड करें. आपका प्रत्येक डाउनलोड हमारे लिए बहुमूल्य है. और यह वादा करती हूं कि इस संकट के माहौल में, जबकि पूरे विश्व की आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक रूपरेखा बदलने वाली है, हम अपनी ओर से पूरी कोशिश करेंगे कि हंस आपको उसी रूप में निरंतर-नियमित मिलता रहे.

अपना मोर्चा

विभाजन की नहीं यह कहानी

आलोचना का अपना समाजशास्त्र है. इस संदर्भ में मैं रूपासिंह की कहानी 'दुखां दी कटोरी, सुखां दा छल्ला' पर बात करना चाहूंगी जिसे जब मैंने पहली बार पढ़ा तो वह मुझे ठीक-ठाक सी प्रेम कहानी लगी. इस कहानी पर की गई अतिशय प्रशंसा भरी टिप्पणियां मुझे पढ़ने को मिलीं तो मैंने खुद को चेक किया कि कहीं मैंने ठीक यही कहानी ठीक तरीके से पढ़ी भी है या नहीं. मैंने उसके बाद कहानी दो बार पढ़ी और यह लिखते हुए तीसरी बार पढ़ रही हूं, कहानी को लेकर मेरी राय उन खास टिप्पणियों से अलहदा है जिसे मैं यहां सिलसिलेवार ढंग से रखने की कोशिश कर रही हूं.

पहली बात कि यह कहानी विभाजन की कहानी नहीं है, हां विभाजन का जिक्र जरूर है इस कहानी की संरचना में, विभाजन है ही नहीं वह सूचनाओं में आता है और इसलिए विभाजन का त्रास पूरी कहानी में कहीं नहीं उभरता. ना ही पाठक को उदास या रुंआसा भी कर पाता है.

दूसरी बात कि अगर कहानी विभाजन के त्रास को नहीं पकड़ पाती तो वह इतिहास-बोध को ही समझने में असफल है. इतिहास ना वन लाइनर होता है ना ही ब्यौरों में अभिव्यक्त बल्कि इतिहास एक पूरी प्रक्रिया है वह भी द्वंद्वात्मक प्रक्रिया और अलग-अलग समय में उसकी व्याख्या की जाती है. इसीलिए इतिहास को घटनाओं में ढूंढने के दिन लद चुके हैं.

घटना क्या है : विभाजन होता है. चतुर सयाने नाना जी विभाजन के पहले ही अमृतसर आ बसे और वहां पर सुग्गी (बेबे) के भाई की मदद से सुग्गी को भी अमृतसर बुला लिया. इस घटना को आधार बनाकर उसके आगे-पीछे कहानी को जो बुना गया है, वह एक प्रेम कहानी बनती है या बनाई गई है जिसका जिक्र हम बाद में करेंगे. विभाजन पर हिंदी में जो कहानियां लिखी गई हैं 'टोबा टेक सिंह' या 'मलबे का मालिक' जैसी वो एकबारगी आपके पूरे अस्तित्व को उलट-पुलट जाती है. इतिहास की सूचना भर देने से काम नहीं चलता. उसे पूरी कथा में घटित होना होता है—अपनी पूरी सच्चाई और निर्ममता के साथ. हालांकि कहानी में घटना के सच्चे-झूठे होने का कोई मापदंड नहीं है लेकिन फिर भी इतनी उम्मीद की जाती है कि घटित घटनाओं से यथार्थ की गंध आए. सुग्गी के भारत आने की प्रक्रिया बिल्कुल संयोग पर आधारित फिल्मी ड्रामे जैसी लगती है और इसे समझने के लिए मैं कमला भसीन और उर्वशी बुटालिया की किताब पढ़ने की सलाह उन आलोचकों को दूंगी जो इस कहानी को इतिहास-बोध की कहानी बनाने के लिए बेताब है.

तो अब मैं तीसरी बात पर आती हूं कि यह एक साधारण प्रेम कथा है. सुग्गी को उस व्यक्ति से ही प्यार था जो बेहद डरावने वक्त में उसकी मदद करता है तरीका वही जो कृष्ण जी ने सोलह हजार स्त्रियों को पत्नी बनाकर अभयदान दिया है. बहुत पुराना सनातनी पितृसत्तात्मक तरीका जिसे हम कई फिल्मों में देख चुके हैं कि जब नायिका की 'इज्जत' पर बात आती है तो नायक आकर उसकी मांग भर देता है. विभाजन का यह कड़वा सच है कि स्त्रियों को अपने-अपने घर बिठा लिया गया था. यहां तो फिर गनीमत कि सुग्गी को जिसने संभाला दोनों के बीच प्यार का रिश्ता बना वरना तो हम पिंजर की नायिका का हाल देख-पढ़ चुके है. दिक्कत ये नहीं है बल्कि सुग्गी की संभाल करने वाले पर प्यार ही आता है. दरअसल दिक्कत कहानी की संरचना में है. कहानी के अंत को चमत्कारिक बनाने के चक्कर में इस रिश्ते पर रचनाकार ने एक लाइन भी खर्च नहीं किया है. जिक्र है भी (कहानी के पहले पैरे में) तो वह बेबे की बड़बड़ में आकार ही नहीं लेने पाती जबकि लेखिका के पास पूरा अवकाश था कि नानाजी के बरक्स एक बेहतरीन पुरुष को आंक पाती. एक अलग धर्म (ऐसा धर्म जो इस दौर में बेहद घृणा का वायरस बना हुआ हो) के मानवीय अक्स को उभारकर कहानी की उम्र बढ़ जाती.

बहरहाल उस अनजाने खो गए शख्स के बरअक्स जरा नानाजी की खबर लेते हैं. टिपिकल मर्दवादी चेहरा जो इतना सयाना है कि विभाजन की दुश्वारियां सूंघकर खुद को अमृतसर में रचा/बसा लेता है (रसूख और व्यापार पैसे दोनों कमाकर) पर अपनी मंगेतर को वहीं छोड़ आता है. उस मंगेतर को जिसके लिए रचनाकार का कहना है कि नानाजी बेबे को बहुत प्यार करते थे, वह उनके बचपन का प्यार थीं और इज्जत तो खैर थी ही और उस पर हक तो इतना था कि बारह साल की उम्र में भरे-पूरे मर्द बनकर सुग्गी को जूतों से पीट चुके थे. गली के लोग बताते हैं कि नाना जी बेबे को बहुत प्यार करते थे, ढूंढ ही लाए अपनी सुग्गी को और अचानक इतने दरियादिल हो गए कि इसकी बच्ची को भी अपना लिया. ये अलग बात है कि सुग्गी को ताउम्र कोठरी के ताले में बंद रखते 'तू है मेरी किरन' वाला प्यार ही नाना जी को आता था. और फिर बेबे भी उनके जैसी होती गई. हालांकि पहले वह हैंडपंप के छलछलाते पानी जैसी थी और

ठहर गई तो कटोरे जैसी तो क्या कटोरे के रंग जैसी भी हो जाए (ये टीप रचनाकार की तरफ से है.) यह भाषा मर्दवादी सैद्धांतिकी की भाषा है कि औरत तो पानी जैसी होती है. और यहां तो एक कदम और आगे बढ़कर जिस पात्र में डालो वैसी तो बन ही जाती है, उस पात्र का रंग भी अपना लेती है.

दरअसल इस कहानी की संरचना बड़े पुराने किस्म की है. शुरुआत ही होती है गोरा रंग दप-दप करने से, फिर ऊंचे लंबे दो मामे लखपति बापों के घर से आई दो गदबदी मामियां..., वर्णन का यह तरीका कहानी जो एक स्त्री की प्रेम-पीड़ा पर है, को हल्का बनाता है. पूरी कहानी को पढ़िए कि कहानी मजे-मजे में चल रही है. न उतार, न चढ़ाव, न कोई उथल-पुथल. किसी पात्र का कोई द्वंद्व नहीं और पूरी संरचना में कोई उद्वेलन नहीं. यहां तक कि दुःख के जिक्र के लिए लहना सिंह का सहारा लेना पड़ रहा है क्योंकि कहानी के कहन में द्वंद्व है ही नहीं, सपाट बयानी है. इसलिए ही बेबे के गाने से दुख नहीं उपजता. लेखिका को कहना पड़ता है कि 'कमरे से एक अजीब दुख का परनाला रिस-रिसकर बह रहा है.'

कहानी की सरंचना में दो चीजों से चमत्कार पैदा करने की कोशिश की गई है. एक तो छल्ला और दूसरा 'मुसलमान'. मोहन लाल ने यह नहीं बताया कि पास के गबरू जवान का नाम क्या था और लेखिका ने यह नहीं बताया कि तोषी तौसीफ को कहा जा रहा है. इन दोनों को एक राज की तरह इस्तेमाल किया गया है. और चूंकि यह राज है तो इसका जिक्र अंत में ही आएगा. इसलिए कहानी को पंजाब के रोजमर्रा के ब्यौरों से भरने की जरूरत हुई है... लस्सी, स्वर्ण मंदिर, गिद्दा, घर, प्रभात फेरियां, जत्था इत्यादि और हां ध्यान देने की बात है कि इन सब पर विभाजन की कोई छाया नहीं है. पूरी कहानी बिना किसी द्वंद्व के बढ़ रही है. कई बार इतनी सतही कि बेबे की कोई खबर न होने के लिए एक लाइन काफी है कि 'डॉक्टरों की पढ़ाई आसान नहीं होती.' बेबे बहुत बीमार है और घर के डॉक्टर से कोई सलाह नहीं ली जाती. अंत में डॉक्टर का आगमन मानो सिर्फ बेबे का 'छल्ला' उतारने और पहनाने के लिए होता है और इसके लिए भी बेबे की बैचेनी को बहाने के तौर पर इस्तेमाल किया गया है. छल्ला उतारा और पहनाया गया मानो यह अंत पहले से ही सोच रखा गया था.

और उसके बाद 'अल्लाह' शब्द का प्रयोग तो अति नाटकीय, बेहद बनावटी है—बेबे और शमशेर के 'एक ओंकार' को छिन्न-भिन्न करता हुआ. उस पर तुर्रा ये कि यहां 'मेरी मां का पिता' का जिक्र भी हो गया नानाजी का बड़प्पन (न विश्वास करने योग्य) भी धराशायी हुआ. बेबे के पूरे जीवन, उनकी त्रासदी को नकारता हुआ यह पितृसत्तात्मक वाक्य 'मेरी मां का पिता.' जबकि होना चाहिए था—मेरी बेबे का शमशेर. दरअसल दिक्कत यह है कि पितृसत्ता एक ऐसी संरचना है जिसके प्रति हम निरंतर सचेत रहकर लड़ते नहीं रहे तो हमारी भाषा में, सोच में और संरचना में बयां हो ही जाती है. वैसे भी इस कहानी में पितृसत्ता पर एक बार भी उंगली नहीं रखी गई है. कहा जा रहा है कि यह विभाजन की कहानी है. विभाजन के समय दोनों तरफ की स्त्रियों के साथ जो हुआ वह पितृसत्ता का क्रूरतम रूप है. इसकी आलोचना का, दुख का, अफसोस का, त्रासदी का एक भी शब्द पूरी कहानी में कहीं नहीं है.

अब दो बातें और. एक तो दुख की गठरी के लिए 'कूबड़' का इस्तेमाल? वह भी छुहारे और बताशा कहकर? कूबड़ एक शारीरिक विसंगति है, दुखदायी है. पता नहीं क्यों अनामिका की ब्रेस्ट कैंसर वाली कविता याद आ रही है जिसमें वो कहती हैं कि पहाड़ को चूहे धीरे-धीरे कुतर रहे हैं (वक्ष को पहाड़ कहना ही अपने आप में भयानक रूप से पितृसत्तात्मक है). यह पढ़कर कैंसर की भयावहता से ज्यादा जुगुप्सा होती है. यह प्रयोग कुछ लोगों को बहुत मौलिक लग सकता है. मुझसे कूबड़ वाला ट्रीटमेंट हजम नहीं हो रहा.

शरीर के वर्णन के लिए जब खाने की चीजों को उपमान के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है तो एक अलग ही प्रभाव मन पर पड़ता है. कई बार जुगुप्सा के निकट का और यह प्रभाव सामंती पुरुषसत्ता का बाई प्रोडक्ट है. मसलन अमरूद जैसी कड़ी छातियां, संतरे की फांक जैसे होंठ, धनिए की महक वगैरह-वगैरह. अरूंधती रॉय के उपन्यास 'मामूली चीजों का देवता' में स्थानीय पार्टी के नेता कामरेड पिल्ले का केले को हाथ से मसल-मसलकर खाने का दृश्य है और यह तब हो रहा है जब उसकी पार्टी का ही कार्यकर्ता जो इस उपन्यास का दलित नायक है उससे मदद की उम्मीद लगाए दरवाजे पर खड़ा है और सवाल उसके जीने-मरने का है. इसे पढ़ने के बाद कई दिनों तक आप इस दृश्य से उभर नहीं पाते.

बालों में सफेदी दिख रही थी, बालों की कलमें सफेद होने लगी थीं, उम्र का पता देने के लिए ये लाइनें इतनी बार लिखी और फिल्माई जा चुकी हैं कि इनमें से उम्र के बीत जाने के अफसोस का स्वर उभरना चाहिए था अब उभरता नहीं है. ऐसी अभिव्यक्तियां अपनी अर्थवत्ता खो चुकी है और कथा में अपेक्षित प्रभाव पैदा करने से चूक जाती है.

वैसे तो किसी भी नाम को किसी भी

छोटे रूप में पुकारा जा सकता है जैसे सिद्धार्थ को सिद्धू, जगदेव को जग्गी पर तौसीफ का तोषी? पंजाब में संतोष या संतोषी को जरूर तोषी कहकर बुलाया जाता है. दरअसल यह इसी चमत्कार अदायगी से प्रेरित है जिसमें कहानी को गढ़ा गया है. कहानी की जान चमत्कार के तोते में अटकी है, पिंजरा खुला, तोता उड़ा, कहानी फुर्र. और ध्यान दें मैं चमत्कार कह रही हूं नाटकीयता नहीं. नाटकीयता अलग चीज है और वो सिर्फ नाटक ही नहीं कथा-कहानी से लेकर कविता तक का हिस्सा बन सकती है.

और अब अंतिम बात कहानी में पंजाबी भाषा के गीत है, ब्यौरे हैं पर पंजाब की आत्मा नहीं है. भाषा सिर्फ बरतने की चीज नहीं है उसको जिया जाता है. वह हमसे अलहदा नहीं होती और अगर उसे सिर्फ अलग से बरता जाता है तो घोर दुख की घड़ी में या रब की जगह अल्लाह शब्द निकल जाता है. और यह उसी पितृसत्ता की हामी है जो पालन पोषण से ज्यादा डीएनए पर भरोसा करती है.

यह एक ठीक-ठाक सी कहानी बनी रहती अगर उत्साही प्रशंसकों का इसे विभाजन की कहानी बनाने पर इतना जोर नहीं होता.

सपना चमड़िया
ईमेल : chamadia.sapna@gmail.com

असहमति का अर्थ शत्रुता नहीं

मैं प्रतिष्ठित पत्रिका 'हंस' का तभी से पाठक रहा हूं जब राजेन्द्र यादव जी ने अपने संपादन में इसका पुनर्प्रकाशन आरंभ किया था. मैं कहानीकार तो नहीं बस मूलतः एक नवगीतकार हूं किंतु कहानियां पढ़ने में रुचि रही है तथा अभी भी है. किसी पत्रिका को अपनी पाठकीय प्रतिक्रिया भी मैंने कभी नहीं भेजी किंतु पिछले अंकों में 'हंस' में कहानीकार अजय नावरिया के अतिथि संपादन में 'दलित साहित्य' पर केंद्रित नवंबर एवं दिसंबर-2019 के अंकों पर पाठकीय प्रतिक्रियाओं के अतिरिक्त लेखकीय प्रतिक्रियाओं को पढ़कर मुझे भी अपने विचार प्रकट करने की इच्छा हुई.

हर पत्र या पत्रिका की एक घोषित/अघोषित प्रतिबद्धता होती है. 'हंस' की भी है, जो 'जनचेतना का प्रगतिशील कथा मासिक' के रूप में अपनी साख बनाए हुए है तथा जिसके द्वारा विशाल पाठक वर्ग उससे जुड़कर अगले अंकों की सामग्री की उत्सुकता से प्रतीक्षा करता है. पाठक यह नहीं देखता कि आगामी अंक किसके संपादन में निकल रहा है बल्कि इस प्रतीक्षा में रहता है कि अगला अंक उसकी पाठकीय जिज्ञासा को किस सीमा तक शांत करेगा. 'हंस' के 'दलित साहित्य' पर केंद्रित उपर्युक्त दोनों अंकों के बारे में जिस प्रकार पूर्व के अंकों में पूरे पृष्ठ के विज्ञापन देकर प्रचारित किया गया उसने विशेषांकों के प्रति उत्सुकता को काफी हद तक बढ़ा दिया. लेखकों की सूची देखकर यह उत्सुकता और भी बढ़ गई. जब विशेषांक के लिए रचनाएं आमंत्रित की गई थीं तो मैंने भी अपने नवगीत विचारार्थ भेज दिए थे. किसी रचना को स्वीकृत करना या न करना संपादक का विशेषाधिकार है. संपादक की अपनी विवशताओं के साथ-साथ विवेक-दृष्टि भी अपनी जगह काम करती है. अतः अपनी रचनाओं को स्थान न मिलने के बारे में मुझे कोई शिकवा-शिकायत नहीं है. जिन लेखकों, कवियों, विद्वानों के नामों की घोषणा की गई थी उनमें से अनेक प्रतिष्ठित नाम दोनों अंकों से गायब हैं. अतः संपादन में न्यायिक विवेक पर प्रश्न उठना स्वाभाविक है. सूरजपाल चौहान, ईशकुमार गंगानिया, अनिता भारती, पूरन सिंह, राज वाल्मीकि, योगिता यादव, भाग चंद गुर्जर, सुनीता मेहरा, विष्णु सरवदे, दयानंद बटोही, सी. एल. सोनकर, हरपाल सिंह अरूष, अजमेर सिंह काजल, शीलबोधि, आशा रानी, श्याम बाबू शर्मा, संजय श्रमण जोठे, गुलाब सिंह, किरण सूद, अमन वशिष्ठ, देशराज काली, रमेश प्रजापति, राजपाल सिंह राजा, सुमित्रा महरोल, टेकचंद, बी. एल. पारस, शिव बोधि, विकास मोघा, रानी कुमारी, सुशीला टाकभौरे तथा रत्नकुमार सांभरिया ऐसे नाम हैं जिनका उल्लेख विज्ञापन में तो किया गया किंतु इन साहित्यकारों की रचनाएं या लेख विशेषांकों में कहीं दिखाई नहीं दिए बल्कि कुछ अन्य अघोषित रचनाकारों को स्थान दिया गया है. दोनों अंकों में इस प्रकार की संपादकीय समझदारी किन समीकरणों को साध रही है यह अस्पष्ट है. विज्ञापित रचनाकारों में से लगभग 40 प्रतिशत रचनाकारों को इन विशेषांकों में स्थान नहीं दिया गया जो इन लेखकों को सार्वजनिक तौर पर अपमानित करने का संपादकीय अपराध है. यह लेखकों के साथ-साथ 'हंस' के विशाल पाठक वर्ग के साथ भी छल है. 'हंस' के स्तर पर यह नमूना कुछ और आपूर्ति किसी अन्य माल की जैसी व्यावसायिक बेईमानी है. यह भी स्पष्ट है कि 'हंस' के प्रतिष्ठित मंच का दुरूपयोग रत्नकुमार सांभरिया के विरुद्ध किसी योजना के अंतर्गत किया गया है. रत्नकुमार सांभरिया द्वारा अपनी प्रतिक्रिया स्वयं व्यक्त की जा चुकी है. 'हिंदी दलित कहानी का शिल्प' शीर्षक से सतीश खनगवाल ने अपने आलेख में रत्नकुमार सांभरिया का उल्लेख किया है. हंस में प्रकाशित खनगवाल के लेख में से सांभरिया से संबंधित अंशों को निकालकर प्रकाशित तो किया गया है किंतु काट-छांट के बावजूद सांभरिया का भूत फिर भी समापन पैराग्राफ में अपना चेहरा दिखा रहा है. सतीश खनगवाल ने भी हंस के मई 2020 अंक में प्रकाशित अपने पत्र द्वारा इसका उल्लेख किया है.

अंकों में प्रकाशित रचनाओं की समीक्षा या विवेचना करना एक अलग विषय है जो यहां अपेक्षित भी नहीं है. सामग्री के निहितार्थ से ऐसा लग रहा है जैसे किसी प्रायोजक

द्वारा 'हंस' के उपर्युक्त अंकों को अतिथि संपादन के लिए प्रायोजित किया गया है तथा इसे 'अजय नावरिया बनाम रत्नकुमार सांभरिया' का अघोषित रूप दिया गया है. अजय नावरिया और रत्नकुमार सांभरिया दोनों ही अपनी लेखकीय क्षमताओं से राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर समादृत हैं. दोनों को आमने-सामने खड़ा करना किसी षड्यंत्र का हिस्सा तो नहीं? यह प्रश्न अपना उत्तर मांगता रहेगा. यह और भी दुर्भाग्यपूर्ण है जब साहित्य के वरिष्ठ समालोचक कंवल भारती जी एक ओर तो अपने आलेख में यह सिद्ध करने में लगे हैं कि सांभरिया तो अपने को दलित साहित्यकार ही नहीं मानते और दूसरी ओर उनकी कहानियों पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं. साहित्य के क्षेत्र में असहमति का अर्थ शत्रुता नहीं होता किंतु भारती जी आलोचकीय सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए अपने आलेख का बहुलांश रत्नकुमार सांभरिया की आलोचना पर व्यय करते हैं. साहित्य के क्षेत्र में किसी का प्रमाणपत्र या फतवेबाजी नहीं चलती. 'हंस' के पृष्ठों पर भी अनेक कहानीकारों को भविष्य के लिए खूब संभावनाशील होने के प्रमाणपत्र दिए गए थे जिनमें से अधिकांश फुस्स हो गए और लोग आज उनका नाम भी नहीं जानते. कंवल भारती जी अपने आलेख का समापन ऐसे ही फतवे के साथ करते हैं, ''ओमप्रकाश वाल्मीकि के बाद दलित कहानी के इस दौर को दलित साहित्य के इतिहास में अजय नावरिया का युग कहा जा सकता है.'' निःसंदेह अजय नावरिया एक प्रतिभाशाली रचनाकार हैं किंतु दलित साहित्य तथा मुख्यधारा के साहित्य में रत्नकुमार सांभरिया का जो स्थान बन चुका है उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता. सांभरिया जी की रचनाओं को साहित्य में व्यापक स्तर पर स्वीकृति मिल चुकी है तथा सम्मानित भी हुई हैं अतः उनके लेखन पर ऐसी टिप्पणी करके भारती जी ने नावरिया जी को स्थापित किया या नहीं बल्कि स्वयं का अवमूल्यन अवश्य कर लिया है.

जगदीश पंकज
सोमसदन 5/41 सेक्टर-2, राजेन्द्र नगर, साहिबाबाद, गाजियाबाद-201005
मो. : 8860446774, 8851979992
ईमेल : jagdishjend@gmail.com

सोना है हंस

'काश कि वे होते' से शुरू की गई संपादकीय में आशा की किरण दिखाई पड़ती है कि अगर प्रेमचंद या राजेन्द्र यादव होते तो किंचित शालीन तरीके से तानाशाही वातावरण का परिप्रेक्ष्य दिखाई देता. उम्मीद बड़ों से की ही जाती है क्यों कि उनके कौशल को देखा-परखा जा चुका होता है. हंस भी यही उम्मीद करता है तो कुछ अप्रत्याशित नहीं करता है. मार्च में बेहतर शुरुआत हुई है. आगे पृष्ठों में 'मुड़-मुड़ के देख' शीर्षक से हंस के अवतरण एवं विस्तार की जानकारी पाठकों को मिली है. हंस अपने पाठकों के विश्वास पर चलता है, इसी विश्वास का आधार मजबूत होने के कारण अपने आयाम को विस्तार दे पाया है तभी देश के बाहर विदेशों में भी लोगों का प्रिय बना हुआ है. इसमें इसके संघर्ष और इसकी रचनात्मकता छुपी हुई है. सोना है हंस, जिसे हर कोई पाने की उम्मीद लगाए रहता है पर कुछ सोना के मोह बंधन में नहीं बंधे होने का दिखावा करते हैं और सोना पाने की विरक्ति दिखाते हैं पर छूने अथवा उलटने-पलटने की आदत उनके दिखावे को सामने ला देती है. आदमी पशोपेश के जाल में फंसने के कारण ऐसा करता है वरना आदमी स्वयं ही सोना का मूल्य जानता-समझता है. संजय जी वर्तमान है और बहुत से लोग वर्तमान से नाखुश रहा करते हैं, क्योंकि ऐसे लोग खुश रहना जानते ही नहीं.

हंस की कहानी 'सेन चाइल्ड', 'प्रश्न वहीं अटका है', 'सुनी नहीं जानी हर आहट', 'उल्लू का पट्ठा' पढ़ने को अवसर मिला. एक से बढ़कर एक सुंदर कहानी पढ़ने से आनंद में डूब जाना अच्छा महसूस हुआ. 'सेन चाइल्ड' एक ऐसे बच्चे की कहानी है जिसमें कुछ खामी होने के चलते उसके आसपास के सभी लोग उसे अलग समझते हैं और उसे अपमानित करने का कोई अवसर छोड़ते नहीं हैं. चूंकि मैं भी शिक्षक के रूप में ऐसे कमजोर लड़कों के साथ रहा हूं जिनमें कुछ खामियां थीं परंतु उन्हीं में कोई एक अच्छाई ढूंढकर उसकी अच्छाई को उनके ही रास्ते का आधार बनाया तो आशातीत सफलता के साथ उम्मीद से कहीं ज्यादा सफल होते गए. उसे देखकर शाला से भागने वाला छात्र छुट्टी के बाद भी देर तक मेरे साथ रहने लगा. मुझे गाली देने वाला बाद में पांव छूकर प्रेम दिखाने लगा. हां ऐसे शिक्षक कम होते हैं. उल्लू का पट्ठा पढ़ने के बाद लगा लगभग टीनएज का प्यार इतना ही भोला और मासूम होता है न कहीं रंज और न कहीं गम होता है. सिर्फ एक सुंदर-सा एहसास होता है.

जब तक हंस मार्च का हाथ में आया तब तक कोरोना वायरस की चर्चा भारत और अनेक देशों में हो रही थी. भारत में गो-मूत्र पिलाकर ठीक करने की चर्चा होने लगी थी तो कहीं पूजन-हवन का खेल चल रहा था. तसलीमा जी का लेखन भी इसी पर आधारित था. उसने सवाल उठाया था कि राजनेता अपने इलाज के लिए बड़े अस्पताल और बड़े डॉक्टरों का सहारा क्यों लेते हैं और छोटे लोगों के इलाज के लिए निम्न तर तरीका क्यों बताते फिरते हैं. जन सेवा का इलाज बेहतर ढंग से करवाने में वे मुंह मोड़ लेते हैं.

मोहनलाल धिवरिया
(सिर्री), कुरूद 493663 (छ.ग.)
मो. : 9977841387

भूल-सुधार

संजय जी, जल्दी में मुझसे भूलवश 'न हन्यते' (प्रेम भारद्वाज) में (हंस, अप्रैल 2020) कामू की 'द स्ट्रेंजर' के उल्लेख में काफ्का का नाम चला गया है. कृपया मेरी तरफ से इस गलती को अगले अंक में सुधार दें। अल्पना मिश्र

सूर्यपूजा

भुवनेश्वर

अंधेरी घुप गलियों में हवा लपटों की तरह ऊंचे सीले मकानों से टकराकर एकरस हिंसक आवाज करती हुई भर-भर जाती थी.

मोटा, भद्दा डॉक्टर और दुबला रोगी-सा विद्यार्थी विलास हाथ में हाथ डाले फिसलौने खड़चड़े पर खामोश चले जा रहे थे. कीचड़ से बचने के लिए वह बराबर मेढकों की तरह फुदक रहे थे... एकबारगी विलास का पैर कीचड़ में छपक गया और वह उतावली से चिल्ला पड़ा—''डॉक्टर तुम मुर्दा हो, बिल्कुल मरे हुए, इससे ज्यादा कुछ भी तो नहीं. तुम जानते हो, तुम मुर्दा हो? ...मैं तुम्हें कितना चाहता हूं, लेकिन मेरे चाहने से क्या होता है, तुम तो मरे हुए हो.''

''अच्छा-अच्छा,'' डॉक्टर ने अपने हाथ का पूरा सहारा देते हुए बे-मन से कहा.

''मैं तुमसे इतनी साफगोई इसलिए कर रहा हूं कि मैं तुम्हें चाहता हूं. क्या तुम जानते हो, मैं तुम्हें कितना चाहता हूं?''

''हां, हां...क्यों नहीं जानता.''

''यह तो नरक है डॉक्टर, नरक! यह मुर्दों की बस्ती है. यह भरा-पूरा शहर मुर्दों की बस्ती है...बाज मरतबा तो मैं सोचने लगता हूं कि यह बिलकुल खाली है...यह शहर है ही नहीं, यह कोई प्रेत है. डॉक्टर, क्या यह मुमकिन है कि इस मनहूस शहर में हजारों-हजारों आदमी सिर्फ खाने, पीने और सोने के लिए ही जिंदा हैं. अंधेरा, कीचड़, आंधी, बारिश, चारों तरफ देखो, कहीं जीवन का हल्का-सा भी इशारा है? नहीं! घूमकर देखो. कोई यह यकीन करेगा कि यह एक शहर है जहां आदमी रहते हैं—जिंदा, पूरे-पूरे मनुष्य, जो ह्यूमेनिटी कही जाती है? ...वह क्यों जिंदा हैं? माताएं प्रसव की मुसीबत आखिर क्यों झेलती हैं? ...कल्पना करो कि यह बस्ती गारत हो गई, इसका नाम-निशान मिट गया. गोबर के चोंथ की तरह बारिश ने घुलाकर बहा दिया. लेकिन दुनिया में कोई फर्क न पड़ा. कोई जानेगा भी नहीं कि घूरे पर गोबर का एक चोंथ नहीं रहा. और कोई जाने भी क्यों...थोड़े-से क्लर्क, दुकानदार, दलाल, अफसर और हर एक शहर में बिलकुल ऐसे ही क्लर्क, दुकानदार, दलाल और अफसर हैं, बिलकुल ऐसे ही! ...यह इतनी डुप्लीकेट कॉपियां आखिर क्यों हैं! जब खुद असल ही इतना जलील है. शायद सैकड़ों जगह इसी तरह बारिश हो रही होगी, इसी तरह हवा फुफकार रही होगी...डॉक्टर तुम इस पर भी निराश नहीं होते...इतने पर भी?

''नहीं-ई, मैं मायूस क्यों हूंगा?'' डॉक्टर ने जवाब दिया जो विलास को संभालने की 'मेहनत' से हांफ-सा गया था.

'हूफ्‌ ! तुम्हें किसी बात पर गुस्सा नहीं आता? तुम मरे हुए हो न—तुम तो मुर्दा हो.''

''मैं तो खुद ही कहता हूं.''

''तुम यह कहते ही तो हो, महसूस तो नहीं करते. क्या तुम महसूस करते हो कि तुम जिंदा होते हुए भी एक लाश की तरह धीरे-धीरे गल रहे हो, बिथर रहे हो? We are all decaying with little patience & little patience... हमें तो कब का मरघट पहुंच जाना चाहिए था.

''वाकई कब का पहुंच जाना चाहिए था.'' डॉक्टर ने और अनमने से कहा.

''समझ में नहीं आता तुम किस तरह जिंदा हो, यह तो मौत

है, डॉक्टर मौत!''

''मौत?''

विलास ने कुछ ही कदम चलने के बाद अपने आपको झटककर छुड़ा लिया और करीब-करीब गिर ही पड़ा था. संभलकर वह अपनी बहस जारी रखने के लिए एक सीली दीवार से सटकर खड़ा हो गया.

''मुझे नहीं मालूम, नहीं मालूम—जब तक जिंदगी से कोई Compelling Contract न हो, कोई कैसे जिंदा रह सकता है.''

''नहीं रह सकता...लेकिन रहता ही है,'' डॉक्टर अब वाकई ऊब गया था.

''जिंदा रहता है? हम लोग जिंदा कहां रहते हैं. हम लाशों की तरह सड़ते-गलते रहते हैं. हमारा खून एक क्रूर कांसप्रेसी से पानी होता रहता है, तुम इसे जिंदगी कहते हो. तुमसे आब-हवा गंदी होती है. तुम इसे जिंदगी कहते हो, जिंदा चीजें तुमसे छूकर झुलस जाती हैं. तुम इसे जिंदगी कहते हो डॉक्टर!'' उसने अपने स्वाभाविक चिड़चिड़ेपन से डॉक्टर का हाथ पकड़ते हुए कहा—''इसे कौन जिंदगी कहेगा? ...डॉक्टर मेरे पास एक छदाम नहीं है, एक सिगरेट नहीं...एक किताब नहीं जिसे मैं बेच सकूं, इसलिए मैंने शराब पी ली...और इसके बाद. डॉक्टर, क्या मैं जानता नहीं कि इसके बाद अथाह प्रलय है.''

''चलो, क्या बेवकूफी है.'' डॉक्टर ने कुछ डांटकर और कुछ हौसला बंधाते हुए कहा. अंधेरे में वह फिर रेंगते हुए चल दिए. तो भी शीत हवा की लपटें इधर-उधर लपलपा जाती थीं. गीली छतों और काले दरखतों के ऊपर बादल धूल के बगूलों की तरह उठ रहे थे...ऊपर...ऊपर. विलास बार-बार कीचड़ में फिसल जाता था. मोड़ पर तो वह गिर ही पड़ा था, अगर डॉक्टर ने उसे इतनी कठिनाई से संभाल न लिया होता. बाएं बाजू पर विलास के पूरे बोझे को रोके हुए डॉक्टर वाकई थक गया था—इतना कि एक सेकेंड में उसे यह सब अयथार्थ ख्वाब-सा मालूम होने लगा. वह जानता था विलास का हाथ जो उसके हाथ में पड़ा हुआ है, काफी ऊंचा उठ गया है और वह करीब-करीब पीछे घिसट रहा है, पर वह बहुत थक गया था और उस मकान के साथ उसके मन में एक अजीब कुरूपता आ गई थी. अपने हाथ को जरा...आराम देने में अजाने उसने विलास का हाथ और ऊंचा कर लिया और विलास ठोकर खाकर एकबारगी गिरा-गिरा हो गया. ''डॉक्टठर'', जैसे विलास का दिमाग ठोकर खाकर एकबारगी बिचक गया हो, ''आओ,'' हम यह दुनिया त्याग दें, बुद्ध की तरह हम इसे त्याग दें... हुम्फ—आओ, हम इसकी किसी झूठे देवता के सामने कुर्बानी दे दें,'' और विलास की जबान लड़खड़ाने लगी थी...''लेकिन मैं इस दुनिया को प्यार जो करता हूं! डॉक्टर तुम जानते हो मैं तुम्हें कितना चाहता हूं, लेकिन तुम तो मुर्दा हो...'' डॉक्टर ने एकबारगी चमककर कहा, 'शट'प,' और फिर जैसे धीरे-धीरे बच्चों की तरह सुबकने लगा.

विलास ने अपना हाथ छुड़ा लिया, ''मैं इसे प्यार करता हूं. यह दुनिया विलास को नहीं चाहती, विलास ने अपनी जिंदगी बरबाद कर दी, दुनिया की दुकानदारी में उसका साझा नहीं रहा; पर विलास इसी दुनिया के अनगिनत प्रोलीटे प्रोलीतरीयत को प्यार करता है; क्योंकि उसे जीना है, जिंदा रहना है.'' उसने डॉक्टर का, जो अनजाने उससे आ भिड़ा था, फिर हाथ पकड़ लिया. हाथ को संजीदगी से दबाते उसने डॉक्टर के मुंह के पास मुंह ले जाकर फुसलाने के स्वर में कहा—''डॉक्टर, तुम समझते हो हमें जीना है, हमें जरूर जीना है, रात का जशन खत्म हो गया, सुबह को कागज की कंदीलों की तरह हम लोग बुझे हुए फर्श पर पड़े हैं. पर देखना हम लोग फिर जल उठेंगे, डॉक्टर! डॉक्टर अब भी सुबक रहा था, वह बेहद ऊबा था. विलास हारकर चुपचाप चल दिया. दूर एक गीली छत पर सुबह की रमक ने एक बेशक्ल बादल बिथरा दिया था. सामने म्यूनिसिपैलिटी की लाल धुएंदार लालटेन जल रही थी. आंख की तरह, चिपकी, सूजी हुई आंख जिसमें सामने की रोशनी से खून का एक बूंद डबडबा उठा है. विलास उसे देखकर चिल्ला ही उठा—''देखो, वह नई दुनिया की रोशनी है, उस दुनिया की जिसके लिए हम जिएंगे,'' और वह वाकई खड़ा होकर, एक पैर मोड़कर उसे हाथ जोड़ रहा था वैसे ही जैसा उसने अपनी हिस्टरी की किताबों में सूर्यपूजकों की शक्लें देखी थीं.

पर डॉक्टर अब भी सुबक रहा था, बच्चों की तरह, बेहद ऊबे हुए बच्चे की तरह.

(हंस (मासिक), बनारस, वर्ष-9,
अंक 10-11 जुलाई-अगस्त, 1939)

❒

पाऊं कहां हरि हाय तुम्हें

राकेश रंजन

न हन्यते

आलोचक नंदकिशोर नवल नहीं रहे! हिंदी आलोचना के लिए यह एक ऐसी क्षति है, जिसकी पूर्ति किसी विकल्प से संभव नहीं. उनके निधन से आधुनिक हिंदी साहित्य के पथ का एक ऐसा पथिक अनुपस्थित हो गया है, जिसने अपनी यात्रा में उसके सभी मोड़ों और मील के पत्थरों के वस्तु-सत्य तक पहुंचने की कोशिश की थी. हमने हिंदी आलोचना के एक सशक्त स्तंभ को ही नहीं खोया है, उच्च कोटि के एक साधक को भी खो दिया है, जिसकी साधना अपनी भाषा के साहित्य से गहरी ममता की परिणति थी. लोगों को पार उतारने वाला एक विस्तृत जलयान जलधार में विलीन हो गया! वह मशाल बुझ गई, जो आधुनिक हिंदी कविता की सबसे कठिन, जटिल और गुह्य सुरंगों में हमें रास्ता दिखाती थी!

पिछले पच्चीस वर्षों से मैं नवलजी के गहरे संपर्क में था. इस दौरान मेरी हर साहित्यिक गतिविधि के मुख्य प्रेरणा वही रहे—कभी प्रत्यक्ष, तो कभी अप्रत्यक्ष रूप से. 1995 में पहली बार उनसे मिला था. 'वागर्थ' पत्रिका में 'नई कलम' नाम से एक स्तंभ शुरू हुआ था, जिसमें मेरी कच्ची और आधी-अधूरी-सी आठ कविताएं प्रकाशित हुई थीं. उन्हें पढ़कर एक व्यक्ति ने मुझे पोस्टकार्ड के माध्यम से अपनी

नंदकिशोर नवल

प्रतिक्रिया भेजी थी, जिसका नाम था—नंदकिशोर नवल. पत्र का मूल भाव यह था कि "साहित्य में जगह बनाने के लिए गुणवत्ता के साथ-साथ परिमाण की भी आवश्यकता होती है, इसलिए खूब पढ़िए और खूब लिखिए." मैं स्नातक प्रतिष्ठा (हिंदी) के अंतिम वर्ष की परीक्षा दे चुका था, मगर सच कहूं तो इस नाम से प्रायः अनभिज्ञ था. अपने शहर हाजीपुर में साहित्य से जुड़े जिन दो-तीन लोगों को मैं जानता था, उनमें पं. सिद्धिनाथ मिश्र प्रमुख थे. उन्होंने यह बताकर मुझे अचंभे में डाल दिया कि नवलजी उनके बाल-सखा हैं और हाजीपुर के ही हैं. मेरे घर से उनके गांव चांदपुरा की दूरी चार किलोमीटर से अधिक नहीं होगी. उन्होंने बताया कि नवलजी पटना विश्वविद्यालय में हिंदी के प्राध्यापक हैं और वहीं महेंद्रू नामक मुहल्ले में रहते हैं. वह शरद की दोपहर थी, जब मैं पहली बार सिद्धिनाथजी के साथ उनसे मिलने पहुंचा था. महेंद्रू के गुलबीघाट लेन की लखनचंद कोठी में वे किराए पर रहते थे. खिली-खुशनुमा धूप में उनके दरवाजे के दोनों तरफ लाल, नीले और सफेद रंग के फूल खिले थे. हमने दरवाजा खटखटाया, तो एक ऊंचे कद के आकर्षक और रूपवान व्यक्ति ने दरवाजा खोला, जो अपने धवल वस्त्रों में अत्यंत तेजोमय लग रहा था. वे नवलजी थे. सिद्धिनाथजी ने मेरा परिचय कराया, तो खुश हुए. मेरी पढ़ाई-लिखाई, घर-परिवार, परिवार के आय के स्रोत, साहित्य में रुचि के क्षेत्र आदि के विषय में पूछा, फिर कहा, "साहित्य बलिदान का रास्ता है. इस पर किसी भौतिक लाभ की अपेक्षा मत रखिएगा."

पांच-छह महीने बाद हाजीपुर की एक पत्रिका के लिए मैंने नवलजी पर एक लेख लिखा. सोचा, संपादक को देने से पहले उन्हें एक बार दिखा लूं. पटना जाकर उन्हें लेख पढ़ने को दिया. उसका पहला ही वाक्य पढ़कर बोले, "यह जो आपने लिखा है कि नामवर सिंह के बाद हिंदी आलोचना को मैंने आत्यंतिक रूप से प्रभावित किया है, यह सही नहीं है. नामवरजी के बाद किसी आलोचक ने हिंदी आलोचना को आत्यंतिक रूप से प्रभावित नहीं किया है." फिर समझाया, "आलोचना का काम किसी के बारे में बढ़ाकर या घटाकर लिखना नहीं है. उसका काम यह है कि जो जितना है, उसे उतना

ही बताए—न ज्यादा, न कम—और तर्क एवं युक्ति के साथ उसकी विशेषताओं को रेखांकित करे."

एक आलोचक के रूप में नवलजी की उपलब्धि रही कि उन्होंने हिंदी आलोचना के बुद्धि-बोझिल और ज्ञान-गरिष्ठ परिदृश्य में पाठकों के साथ सहज संवाद संभव किया. उनका साहित्यिक योगदान गुण की दृष्टि से विकासमान तथा परिमाण की दृष्टि से विपुल रहा. शोध, अनुसंधान और अध्यवसाय पर आधारित तथा गहरे दायित्व-बोध से प्रेरित उनकी लेखकीय प्रतिबद्धता आज के अगंभीर और अविश्वसनीय होते जाते साहित्यिक माहौल में एक उम्मीद की तरह थी. उन्होंने तीन दर्जन से अधिक आलोचना-पुस्तकें लिखीं, जिनमें 'कविता की मुक्ति', 'हिंदी आलोचना का विकास', 'प्रेमचंद का सौंदर्यशास्त्र', 'निराला और मुक्तिबोध : चार लंबी कविताएं', 'समकालीन काव्य-यात्रा', 'मुक्तिबोध : ज्ञान और संवेदना', 'मुक्तिबोध : कवि-छवि', 'निराला : कृति से साक्षात्कार', 'निराला-काव्य की छवियां', 'शताब्दी की कविता', 'कविता के आर-पार', 'कविता : पहचान का संकट', 'पुनर्मूल्यांकन', 'मैथिलीशरण', 'आधुनिक हिंदी कविता का इतिहास', 'हिंदी कविता : अभी, बिल्कुल अभी', 'दिनकर : अर्धनारीश्वर कवि', 'नागार्जुन का काव्य' और 'कवि अज्ञेय' काफी महत्त्वपूर्ण हैं. उन्होंने 'निराला रचनावली' तथा 'दिनकर रचनावली' सहित करीब दो दर्जन पुस्तकों का संपादन भी किया. 'ध्वजभंग', 'सिर्फ' और 'धरातल' के संपादन से शुरू हुई उनकी साहित्यिक पत्रकारिता की यात्रा 'कसौटी' जैसी महत्त्वपूर्ण पत्रिका तक पहुंची. 'आलोचना' पत्रिका के सह-संपादक रहे. चार सौ से अधिक कविताएं लिखीं, संस्मरण लिखे, अनुवाद किया. काव्यालोचन उनका मुख्य क्षेत्र था, पर उन्होंने गद्य-विधाओं के साथ-साथ साहित्य के सैद्धांतिक विषयों, सौंदर्यशास्त्रीय पक्षों और प्रासंगिक विमर्शों पर भी जमकर लिखा. डॉ. रामविलास शर्मा के बाद हिंदी आलोचना में इस तरह घुटना मोड़कर और आसन जमाकर काम करनेवाला दूसरा आलोचक नहीं हुआ. वे योजनाबद्ध ढंग से काम करते थे. किस दिन क्या लिखना है, कितना लिखना है, यह तय रहता था. जब तक उस दिन का काम पूरा नहीं कर लेते थे, चैन की सांस नहीं लेते थे. ऐसा कठोर आत्मानुशासन उन्हीं के बूते की बात थी. इस तरह करीब साढ़े छह दशकों की अपनी अथक लेखन-यात्रा में अंत-अंत तक उन्होंने अपने शरीर और दिमाग को पूरी तरह निचोड़ डाला था. वसंत हो या पतझर, वातास हो या बवंडर—सबने उनका द्वार खटखटाया, सबके लिए उठकर उन्होंने अपना द्वार खोला, पर इस दौरान कलम उनके हाथ से कभी नहीं छूटी.

हिंदी आलोचना-परंपरा के दाय को नतशिर होकर स्वीकार करते हुए भी; आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. रामविलास शर्मा, प्रो. नलिनविलोचन शर्मा और डॉ. नामवर सिंह के प्रभाव और अपनी निर्मिति में इनकी भूमिका के प्रति कृतज्ञ भाव रखते हुए भी नवलजी इनसे जहां भी असहमत हुए, वहां अपनी राय बेहिचक जाहिर की. स्वयंप्राप्त निष्कर्षों के प्रति सदा निष्ठावान रहे. कभी ऐसा नहीं देखा गया कि वे समझ कुछ रहे हैं और कह कुछ और रहे हैं. उनकी जानकारी में कमी हो सकती थी, ईमानदारी में नहीं. अपने आलोचकीय दायित्व का सतत बोध, अपने अनुभव की निष्कवच अभिव्यक्ति की ईमानदारी, अपनी सीमा को स्वीकार करने का नैतिक साहस—ये ऐसे मूल्य हैं, जो आलोचक के रूप में नवलजी को विश्वसनीय बनाते हैं. आलोचना में जिन्हें वे अपना गुरु मानते रहे, उनकी भी असंगत स्थापनाओं और व्याख्याओं का उन्होंने तार्किक ढंग से खंडन किया और अपने शिष्यों को भी, जिनके साथ उनका व्यवहार सहज मित्रवत् होता था, हमेशा 'बाणभट्ट' के अघोरभैरव की तरह यही सिखाया कि "किसी से न डरना, गुरु से भी नहीं, मंत्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं." यही कारण है कि हिंदी आलोचना की प्रगतिशील परंपरा में उनका विकास ऐसे धरातल पर हुआ, जिसका चरित्र अधिक तार्किक, अधिक लोकतांत्रिक और निर्व्याज साहित्यिक है.

नवलजी की आलोचना-दृष्टि की विशेषता उसका हर प्रकार की वैचारिक संकीर्णता और पूर्वाग्रह-दुराग्रह से मुक्त होना है. 'आलोचना और मेरी आत्म-स्वीकृतियां' शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा है, "निश्चय ही आलोचना को सबसे बड़ा नुकसान तब होता है, जब आलोचक एक खास विचारधारा में बंधकर रचना पर विचार करता है. यह बात केवल मार्क्सवादी विचारधारा के लिए ही नहीं, किसी भी विचारधारा के लिए सही है." उन्होंने स्वीकार किया है, "यह सच्चाई है कि मार्क्सवाद ने मेरी एक आंख को खोलकर दूसरी आंख को बंद कर दिया था, सो दूसरी तरफ का दृश्य मुझे अपनी भव्यता में दिखलाई नहीं पड़ता था." और यह भी कि "अनुभव ने मुझे यह सिखलाया कि कोई भी दृष्टि कविता को समझने में बाधक है." कितने लेखक सार्वजनिक रूप

से ऐसी आत्मस्वीकृतियां दर्ज करने का साहस कर पाते हैं, आलोचक तो ऐसा नहीं ही करते हैं. इस लेख में नवलजी ने बड़ी ईमानदारी से अपने वैचारिक बदलावों को सामने रखा. यह लेख उनकी आत्म-समीक्षा है.

इस बात का यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि उनकी आलोचना हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना के खिलाफ थी. वास्तविकता है कि वह केवल उसकी रूढ़ियों के खिलाफ संघर्ष करती रही और इस संघर्ष को शक्ति प्राप्त होती रही उनके भीतर निरंतर चलनेवाले आत्मसंघर्ष से. उन्होंने 'समकालीन काव्य-यात्रा' की भूमिका में लिखा, "जैसे रचनाकार को अपने को नकारने का अधिकार है, वैसे ही आलोचना के क्षेत्र में कार्य करने वाले को भी. कभी-कभी तो मुझे लगता है कि आलोचक यदि एक बिंदु पर रुक नहीं गया, तो आलोचना भूल-सुधार की निरंतर प्रक्रिया है. रचना में कोई शब्द अंतिम होता हो, पर आलोचना में वह नहीं होता. आलोचना विश्लेषण भी है और मूल्यांकन भी, पर अंततः वह अन्वेषण है, साहित्य के भीतर से जीवन की सच्चाइयों का."

किंतु मेरी ये सारी बातें कुंवरजी के शब्दों में, एक व्यक्ति के चले जाने के बाद का आयोजन है. "एक बीमार/बिस्तर से उठे बिना ही/घर से बाहर चला" गया है! शरदारंभ में आया प्रवासी खंजन वसंतांत में लौट गया! उसके दमकते पंखों और विकल प्राणों की स्मृतियां शेष रह गईं!

दिसंबर के बाद मैं नवलजी से नहीं मिल सका था. नौकरी के लिए रोज करीब सौ किलोमीटर की यात्रा कर लौटने के बाद कुछ करने और कहीं जाने की ताकत नहीं बचती थी. जनवरी में मोटरसाइकिल से गिरकर दुर्घटनाग्रस्त होने के कारण भी उनसे मिलने में बाधा आई. फिर फरवरी में एमए संकेंड सेमेस्टर की कक्षाएं शुरू हो गईं. इसी समय, फरवरी के अंत में, एक दोपहर उनका फोन आया. इधर दो-तीन वर्षों से, जबसे वे कम सुनने लगे थे, फोन पर बात नहीं करते थे. कोई जरूरी बात हुई, तो चाची (श्रीमती रागिनी शर्मा) के माध्यम से फोन पर संवादों का आदान-प्रदान होता था. मगर उस दोपहर उन्होंने खुद फोन लगाया था. मेरे फोन उठाते ही कहा, "राकेशजी, आपने मुझे त्याग दिया है?" कितनी अपेक्षा, ममता और विकलता थी इस फटकार में! ऐसा निरिच्छ निर्देशक अब मुझे कहां मिलेगा! मैंने शर्मिंदगी के साथ जवाब में कुछ कहने की कोशिश की. कहा कि आऊंगा. पर वे सुन कहां पाए होंगे! मैं कह कुछ रहा था, वे सुन कुछ रहे थे, इसलिए फोन रखना पड़ा. इसके बाद हर पल सोचता रहा कि जल्द ही मिलने जाऊंगा. पर मेरा दुर्भाग्य! कोरोना की वजह से लॉकडाउन हो गया और फिर वह हुआ, जिसकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी. तबसे उनका वह वाक्य मेरे कलेजे में नश्तर की तरह चुभा हुआ है, "राकेशजी, आपने मुझे त्याग दिया है?" इच्छा होती है, कलेजे में जोर-जोर से मुक्का मारूं और फूट-फूटकर रोऊं, "पाऊं कहां हरि हाय तुम्हैं, धरती में धंसौं कि अकासहिं चीरौं."

❐

संपर्क : सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर (बिहार). मो. 8002577406

सूचना

ईमेल द्वारा हंस को प्रतिदिन काफी संख्या में रचनाएं मिल रही हैं. कोरोना संकट के कारण कार्यालय बंद है इसलिए रचना-निर्णय में थोड़ा समय लग रहा है. प्राप्त रचनाओं में कविता और गजल की संख्या अधिक है. ऐसी स्थिति में कुछ माह तक हम कविता व गजल लेने की स्थिति में नहीं हैं.

आपसे आग्रह है कि अभी आप सिर्फ कहानी/लेख ही भेंजे. रचना पर निर्णय हो जाने पर ही आप दूसरी रचना भेंजे. **—संपादक**

आग्रह

• **हंस** के जिन सदस्यों का वार्षिक शुल्क खत्म हो गया है या होने जा रहा है वे कृपया अपना शुल्क शीघ्र भिजवाएं. चैक अक्षर प्रकाशन प्रा.लि. (Akshar Prakashan Pvt.Ltd.) के नाम से हो. पत्र/राशि भेजते समय अपनी सदस्यता संख्या लिखें या नई/पुरानी सदस्यता एवं ईमेल का उल्लेख अवश्य करें ताकि किसी भी प्रकार के दोहराव से बचा जा सके.

• सदस्यता राशि बैंक में जमा करते समय कार्यालय को अवश्य सूचित करें.

• डाक से हंस को भेजी जाने वाली प्रत्येक रचना में अपना नाम/पता/दूरभाष/ईमेल स्पष्ट अक्षरों में लिखें. लिफाफे के बाहर रचना-विधा का उल्लेख करें. रचना के साथ डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य संलग्न करें एवं रचना की एक प्रति अपने पास सुरक्षित रखें. छोटी रचना के लिए पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं है.

• रेतघड़ी/रपट/अपना मोर्चा (पत्र) की शब्द संख्या अधिक न हो ताकि अधिक से अधिक लोगों को उचित स्थान दिया जा सके. रेतघड़ी की रपट के लिए शब्द-सीमा 500 की हो तो हमें सुविधा होगी. **—वीना उनियाल**

वह एक ऐसी सतह पर था जिसके ऊपर उठना ही नहीं चाहता था

प्रभात रंजन

न हन्यते

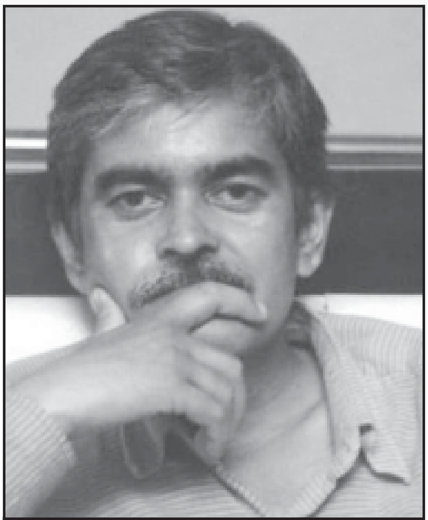
शशिभूषण द्विवेदी

शशिभूषण द्विवेदी के निधन के बाद फेसबुक पर जब लोग बड़ी तादाद में उसको श्रद्धांजलि दे रहे थे मुझे गोविंद निहलानी की फिल्म 'पार्टी' याद आ रही थी. फिल्म में एक वरिष्ठ नाटककार के सम्मान में पार्टी दी जाती है. उस पार्टी में अनेक युवा-वरिष्ठ लेखक मौजूद हैं. लेकिन अमृत मौजूद नहीं है. धीरे-धीरे उस पार्टी में अमृत के बारे में बात होने लगती है जो साहित्य राजनीति की दुनिया को छोड़कर आदिवासियों के बीच काम करने के लिए चला गया है. उस पार्टी में सब साहित्य की सत्ता से जोड़-तोड़, विदेश यात्राओं के जुगाड़ की बातें कर रहे हैं. लेकिन अमृत सबसे दूर है. वह उन सभी की अंतरात्मा को कचोट रहा है. जब वे सोते हैं तो उनके सपने में अमृत का संघर्षरत चेहरा आ जाता है. मैं यह नहीं कह रहा कि वह अमृत की तरह संघर्ष कर रहा था. लेकिन हम सब भौतिक सफलताओं के लिए तीन तिकड़म में लगे रहे, उसको जैसे कुछ चाहिए ही नहीं था. वह इन सबसे दूर बैठा चुटीले वाक्य लिखता रहता था. कभी कुछ चुभता हुआ मैसेज कर देता था.

शशिभूषण द्विवेदी का नाम, मुझे अच्छी तरह याद है, मैंने पहली बार 2002 में सुना था. उन दिनों मैं महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की पत्रिका 'बहुवचन' का संपादन कर रहा था. डाक से रचनाएं आती रहती थीं. पत्रिका में नए लेखकों की रचनाएं कम ही प्रकाशित हो पाती थीं लेकिन मैं पढ़ता सबकी रचना था. ऐसे ही एक दिन डाक में एक लिफाफा आया. जिसमें संपादक के नाम पत्र के साथ एक कहानी थी. वह कहानी थी 'काला गुलाब'. शशिभूषण द्विवेदी नामक एक लेखक की डाक से आई हस्तलिखित कहानी को पढ़कर मैं यही सोचता रहा कि यह कैसी कहानी है जो बहुत कुछ कहना चाहती है लेकिन कहती कुछ नहीं है. अव्यक्त की एक गहरी टीस थी उस कहानी में जिसमें उस समय की कहानी का एक प्रचलित फॉर्मूला बेरोजगारी का तो था लेकिन प्रेम की पीड़ा, विरसे में मिली बेघरी और एक घर का सपना. मैं बने-बनाए सांचे में उसको डिकोड नहीं कर पाया था. जब आप बने-बनाए फॉर्मूले से अलग हटकर कुछ पढ़ते हैं तो आप एकबारगी कुछ कह नहीं पाते. कहानी प्रकाशित तो नहीं हो पाई. बाद में मैं भी उस नौकरी से भी निकल गया.

खैर, अच्छी तरह से याद है मुझे उस कहानी को पढ़कर मैंने अखिलेश जी को फोन किया था. उन दिनों उन्होंने 'तद्भव' नामक पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया था और उनकी कहानियों की तरह पत्रिका की भी धूम मची हुई थी. जब उनसे मैंने शशिभूषण द्विवेदी के बारे में पूछा तो उन्होंने बताया कि उनके पास भी डाक से उसकी एक कहानी आई थी 'एक बूढ़े की मौत' जो उनको अच्छी लगी और वे प्रकाशित करने जा रहे थे. लेकिन उनकी मुश्किल यह थी कि पत्र में उसने अपना फोन नंबर नहीं दिया था और वे उसको सूचित नहीं कर पा रहे थे कि वे उसकी कहानी प्रकाशित करने जा रहे थे. उन दिनों उसकी कहानियां सबको प्रभावित कर रही थीं. जिक्र चला है तो बताता चलूं कि उसकी कहानियों पर सुधीश पचौरी और राजकिशोर ने अपने अपने स्तंभ में लिखा था. दोनों अपने जमाने के स्टार स्तंभकार थे.

हिंदी कहानियां उस काल में उदय प्रकाश और बाद में अखिलेश के मुहावरे के सम्मोहन में थी. अगर मैं अपनी बात बताऊं तो मेरे पहले कहानी-संग्रह 'जानकी पुल' की कई कहानियों में यह सम्मोहन दिखाई देता है. लेकिन शशिभूषण की आरंभिक कहानियों में कहीं से भी वह सम्मोहन नहीं दिखाई देता है. उसके जीते जी उसकी कहानियों का ठीक से विश्लेषण नहीं किया गया लेकिन आज लिखते हुए मैं इस बात को ईमानदारी से रेखांकित करना चाहता हूं कि इक्कीसवीं शताब्दी में परिदृश्य पर आए युवा लेखकों में वह उन गिने-चुने आरंभिक लेखकों में था जो अपना मुहावरा विकसित करना चाहता था. मैं और मेरी पीढ़ी के कुछ अन्य लेखक सफलता के सुरक्षित मुहावरे में लिखकर अपने आपको स्वीकृत करवा रहे थे. जबकि वह बहुत विनम्रता से विद्रोह कर रहा था. प्रसंगवश, हम दोनों ने अपने अपने पहले कथा संग्रहों का समर्पण अखिलेश

को किया था. बाद में मैं तो उनसे दूर होता गया, विद्रोह करता गया लेकिन वह उनसे आजीवन जुड़ा रहा. यह नहीं कह सकता कि अखिलेश जी भी उससे जुड़े रहे या नहीं लेकिन वह अपनी तरफ से उनसे जुड़ा रहा. वह उनको फोन करता था, जो बात होती थी मुझे सुनाता और इस तरह उसने मुझे भी कभी अखिलेश से पूरी तरह अलग नहीं होने दिया. उस दौर का शशिभूषण अपने जीवन और अपने लेखन में बहुत अलग था. 2007-08 के बाद का शशिभूषण बहुत बदल गया था. उसका जीवन फैल गया था. लेकिन उससे पहले बहुत अलग था वह. उसके जीवन में कम लोग थे, वह नियमित लिखता था, नौकरी करता था. और हां, गुटका तब भी खाता था.

मुझे याद है उससे पहली मुलाकात ब्रजेश्वर मदान ने करवाई थी. उन दिनों ब्रजेश्वर मदान *सहारा* में पत्रकारिता की अपनी आखिरी पारी खेल रहे थे. शशिभूषण और ब्रजेश्वर मदान के बीच की मैत्री, रिश्तों को लेकर, दोनों की शराबनोशी आदि को लेकर बहुत कहा-सुना गया है. कई लेखकों ने लिखा भी है, लेकिन उन दोनों के रचनात्मक संबंधों को लेकर किसी ने नहीं लिखा. कुछ बातें लिखना इसलिए जरूरी है क्योंकि ब्रजेश्वर मदान से मेरे संबंध बहुत पुराने थे, तब जब मैं दिल्ली विश्वविद्यालय का छात्र था. मेरे एक सीनियर मित्र नरेश शर्मा उनकी कहानियों से बहुत प्रभावित थे और वे उनकी कुछ कहानियों के ऊपर फिल्म बनाना चाहते थे. उनके प्रभाव में ही मैं उनसे पहली बार दरियागंज में मिला था. वे 'फिल्मी कलियां' के संपादक थे. शाम में दफ्तर खत्म होने के बाद वे 'पउआ पार्टी' करते और फिर जहांगीरपुरी स्थित अपने घर के लिए निकल जाते. उनकी पउआ पार्टी में मैं भी अक्सर मौजूद रहने लगा. कई बार भागीदार के रूप में भी लेकिन अक्सर दर्शक के रूप में ही. तब मैं लेखक बना नहीं था लेकिन उनकी संगत में कई लेखकों से उन्हीं महफिलों में परिचय हुआ जिनके नाम लिखना यहां उचित नहीं होगा.

खैर, बाद में, अपने जीवन भर की कमाई से मदान साहब ने नोएडा में एक बड़ी कोठी बनवा ली थी. यह उन्हीं दिनों की बात थी जब वे *सहारा समूह* के लिए काम कर रहे थे. उन्हीं दिनों दुबारा उनसे जुड़ना इसलिए हुआ क्योंकि मैं नोएडा बॉर्डर पर रहने लगा था और मेरे घर से सहारा के दफ्तर की दूरी बहुत कम थी और सहारा के दफ्तर से मदान साहब के घर की दूरी बहुत कम थी. पुराने दिनों की तरह उनकी महफिलें जमने लगी थीं. उन महफिलों में शशिभूषण की उपस्थिति स्थायी भाव की तरह होती थी, हरेप्रकाश उपाध्याय भी संचारी भाव की तरह आ जाते थे. मैं अक्सर जाता पहले *सहारा* के दफ्तर, वहां से सेक्टर 12 के मार्केट के ठेके में. उनकी पार्टी का स्टाइल वही पउआ पार्टी वाला ही रहा. यानी एक पउआ खरीदा और बिना पानी के गटागट. मैंने यह ध्यान दिया कि शशिभूषण ने भी मदान साहब की शैली अपना ली थी. मैं ब्रीजर से काम चलाता था. इस तरह गटागट पीना मेरे बस की बात नहीं थी.

इस साहचर्य पर इतना विस्तार से मैं इसलिए लिख रहा हूं क्योंकि उसके जीवन के इस काल ने उसको रचनात्मक रूप से समृद्ध भी किया. वह अपने जीवन में सबसे सकारात्मक इसी काल में दिखा था. एक प्रसंग की तरफ ध्यान दिलाना चाहता हूं. *सहारा समय* कथा चयन का आयोजन किया गया था, जिसमें प्रथम पुरस्कार मेरी कहानी 'जानकी पुल' को दिया गया था. शशिभूषण की कहानी 'शिल्पहीन' को तृतीय पुरस्कार मिला था. इस बात को लेकर बहुत विवाद हुआ कि मुझे प्रथम पुरस्कार इसलिए मिला क्योंकि फाइनल ज्यूरी में मनोहर श्याम जोशी और सुधीश पचौरी थे और दोनों मेरे गुरु थे. लेकिन इस बात पर किसी का ध्यान नहीं गया कि *सहारा समूह* की तरफ से उस पुरस्कार के संयोजक ब्रजेश्वर मदान थे.

जो काम टेबल पर ही हो गया था हिंदी वाले उसका इल्जाम कुर्सी को देते रहे. मुझे याद है एक बार पुरस्कार की इस घटना के बहुत बाद मैंने उससे कहा था कि 'शिल्पहीन' आपकी कमजोर कहानी है क्योंकि यह एक ऐसी कहानी है जिसमें आपने मुहावरे को छोड़कर हिंदी के प्रचलित मुहावरों में एक सांप्रदायिकता के मुहावरे को अपनाया था. उसने जवाब दिया था, 'आपने तकनीक के जाल को कहानी में उलझाकर एक नया मुहावरा बनाने की कोशिश की थी. लेकिन मुझे मदान साहब ने बताया था कि मीटिंग में मनोहर श्याम जोशी ने आपकी कहानी के बारे में बोला था कि आपकी यह कहानी एक मेक्सिकन कहानी से प्रभावित है.'

किस लेखक की किस कहानी से—यह वह बता नहीं पाया. उसी दौर में वह उपन्यासों की योजना पर बात करता था. वह कस्बों के छोटे-मोटे बदमाशों पर उपन्यास लिखना चाहता था. वह एक ऐसे नेता के जीवन की कहानी लिखना चाहता था जो समलैंगिक था. लेकिन लिखा कुछ नहीं. वह कहानी इस तरह सुनाता मानो पूरी लिख चुका हो. मांगने पर बमुश्किल एक पन्ना भेजता था और पूछता कैसी लगी?

यह बात अलग है कि शशिभूषण को इनाम-इकराम मिलते गए लेकिन वह उस दौर में भी एक ऐसी कुर्सी का इंतजाम नहीं कर पाया जिसके ऊपर बैठकर वह कुछ चैन से जी सके. उसी दौर में ब्रजेश्वर मदान ने उसको अपनी छांह दी थी और वह सुकून महसूस कर रहा था. कुणाल सिंह दिल्ली आ गया था और हरेप्रकाश, शशिभूषण, कुणाल की दोस्ती का एक अलग स्तर था, जिनके ऊपर बहुत लिखने का मैं अधिकारी नहीं हूं. लेकिन मदान साहब वे अंतिम आदमी थे जो सबके बावजूद उसको लेकर बहुत संवेदनशील थे. वह मुझसे कहते थे कि इसको शादी के बाद अपने घर में रहने का ठिकाना दे दूंगा. रात में उसकी शिकायत करते थे, दिन में उसको लेकर परेशान हो जाते थे.

सब कुछ ठीक चल रहा था कि अचानक

ब्रजेश्वर मदान को लकवा मार गया. इलाज के लिए उनको उनके भाई के घर ले जाया गया. मदान साहब के परिदृश्य से जाने के बाद मैं बोहेमियन से घरेलू हो गया और शशि आजाद. उन्हीं दिनों उसको लेकर किस्से-कहानियों की शुरुआत हुई. उसके जीवन में कुछ अच्छे दोस्त और जुड़ते गए—कुमार अनुपम, रामजनम पाठक, सुधांशु फिरदौस, अविनाश मिश्र. वह अक्सर इनकी गति-प्रगतियों से मुझे अवगत करवाता रहता था. लेकिन इनमें से कोई उसकी दिशा मोड़ नहीं पाया. सब अपनी-अपनी दिशा में मुड़ गए. वह अपने अंधेरे में बढ़ता जा रहा था.

उसने आखिरी नौकरी हिंदुस्तान टाइम्स समूह की पत्रिका 'कादम्बिनी' में की, जो उसको विष्णु नागर के संपादक रहते मिली थी और उसके पीछे कारक की भूमिका हरेप्रकाश ने निभाई. मैं जाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज में पढ़ाने लगा था, जो कस्तूरबा गांधी स्थित *हिंदुस्तान टाइम्स* के दफ्तर के पास था. मैं अक्सर *हिंदुस्तान* के दफ्तर जाता था, लेकिन उससे मिलने नहीं राजेंद्र धोड़पकर से मिलने. उसके किस्से-कहानियों को सुन-सुनकर या अपनी मशरूफियत के बढ़ते जाने के कारण उनसे मिलना कम होता जा रहा था. लेकिन मैं अक्सर *हिंदुस्तान* के दफ्तर से बिना उनसे मिले निकल आता. उस अखबार के बड़े-बड़े पत्रकार मेरे दोस्त थे. उनके संपादक से मेरी सीधी बात होती थी. सार्वजनिक रूप से उनसे मिलने में मैं भी थोड़ा कटने लगा था. सब कटने लगे थे.

लेकिन इस बात का वह बुरा नहीं मानता था. सोशल मीडिया की सक्रियता के दिनों में जरूर वह अक्सर मेरे बारे में ऐसी टिप्पणियां कर देता था जो बुरी लगने वाली होती थीं लेकिन न मैंने उनका बुरा माना, न उसने दोस्ती का सिरा तोड़ा. वह फोन पर जुड़ा रहा. अपनी शादी की बात भी उसने मुझे फोन पर ही बताई. लंबी-लंबी बातें करता. पत्नी की तारीफें करता. उसकी एक कहानी याद आ रही है 'छुट्टी का दिन'. यह अकेली कहानी है जो मध्यवर्गीय जीवन को लेकर है. पारिवारिकता को लेकर है. ऐसा लगने लगा था कि वह रमने लगा था, लेकिन किसी चीज में पूरी तरह रम जाना उसका स्वभाव ही नहीं रहा. वह मिलता था, बातें करते-करते अचानक बिना विदा मांगे चला जाता था. फोन पर वह कई बार ऐसी ऐसी बातें करता था जिनके सूत्रों को जोड़कर मैं उसको समझने की कोशिश कर रहा हूं. जब वह *कादम्बिनी* में गया ही था तो एक दिन कहने लगा, जानते हैं अब हिंदी के लेखक वही होंगे जिनको कोरपोरेट में मोटी-मोटी तनख्वाह मिलेगी. साहित्य उनके लिए अपनी ऐश्वर्य की दुनिया से निकलने या उसको फैलाने का माध्यम बनेगा. अब कलम के मजदूरों का दौर नहीं रहा. आने वाला समय कलम के व्यापारियों का होगा. जब मैं उसको लिखने के लिए कहता तो फोन काट देता था. वह खुद भी कई बार महीनों फोन पर गायब हो जाता था, न फोन करता, न फोन उठाता. फिर अचानक ऐसे प्रकट हो जाता जैसे कुछ हुआ ही न हो. वह आगे-पीछे के सिरे गायब करता जा रहा था. उसकी बातों से कई बार मुझे अहसास होता था. लेकिन मैं समझ गया था कि उसको अपने अंधेरों से प्यार हो गया था. उजाले में आते ही जैसे उसकी आंखें चौंधियाने लगतीं और वह फिर गायब हो जाता.

एक बात मैंने महसूस की थी कि शशि हमेशा ऐसे लेखकों के नाम लेता था जिनको हिंदी समाज में उपेक्षा बहुत मिली. सबसे पहले उससे मेरी लड़ाई भीमसेन त्यागी को लेकर हुई थी. उन दिनों वह *जनसत्ता* में मुझसे मिलने आता और बिना किसी प्रसंग के कहने लगता, जानते हैं भीमसेन त्यागी बहुत बड़े लेखक हैं. एक दिन इसी बात से चिढ़कर मैंने गुस्से में उसको डांटकर भगा दिया. यह मैंने महसूस किया कि जब भी उससे लड़ता या उसको झाड़ पिलाता तो वह कभी प्रतिकार नहीं करता था. चुपचाप चला जाता या फोन रख देता. बाद में मैंने महसूस किया कि ब्रजेश्वर मदान, राजकमल चौधरी ऐसे सारे लेखक उसके लिए आदर्श थे जिनको सामाजिक स्वीकृति नहीं मिली. हम बड़े-बड़े लेखकों से जुड़ने के जुगाड़ में रहते थे. वह उनके जिनको 'छोटा लेखक' कहा जाता था.

हम सब बड़ी-बड़ी महत्वाकांक्षाओं के पीछे भागते रहे, वह हमेशा छोटी-छोटी इच्छाओं के पीछे. वह प्रूफ के काम के अलावा कोई और काम न मांगता था, न करता था. वह लिखने के कमिटमेंट पूरे नहीं करता था, अनुवाद के प्रोजेक्ट अधूरा छोड़ देता था लेकिन प्रूफ के काम हमेशा पूरा करता था. अपने आखिरी दिनों में उसके घर में दो किताबें थीं जो रॉयल कोलिंस प्रकाशन ने उसको दी थीं. वह उनके प्रूफ पढ़ चुका था और उनको भिजवाने के लिए बेचैन था. कभी कहता पैदल चला जाऊं देने क्या, कभी कहता कुरियर से भिजवा दूं क्या? आखिरी फोन उसने मुझे 5 मई को किया था और पूछा था कि उस प्रूफ को किस तरह भेजा जा सकता था. मैंने कहा कि उन लोगों का दफ्तर करोलबाग में है. लॉकडाउन में कुछ नहीं किया जा सकता. उसके निधन की खबर जब मैंने रॉयल कोलिंस प्रकाशन के निदेशक महोदय को दी तो वे बोले कि तीन-चार दिन पहले उससे उनकी लंबी बात हुई थी. उन्होंने उसको आश्वस्त किया था कि 'लॉकडाउन के बाद पहुंचा दे प्रूफ, कोई जल्दी नहीं है. अजीब आदमी था, उसको मैंने संपादन, अनुवाद हर तरह के काम के लिए कहा लेकिन एक साल से वह केवल प्रूफ का काम ही कर रहा था. और किसी काम के लिए राजी नहीं होता था.'

वह एक ऐसी सतह पर था जिसके ऊपर उठना ही नहीं चाहता था. वह एक बेहतरीन कहानी के आइडिया की तरह था जिसको पूरा नहीं करना चाहता था. जाने के बाद अमृत की तरह हमारी अंतरात्मा को झकझोरता रहेगा.

❐

ईमेल : prabhatranja@gmail.com

कहानी

मृत्यु

•

ज्ञानरंजन

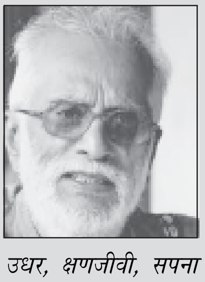

जन्म : 21 नवंबर 1936, अकोला (महाराष्ट्र)
कृतियां : कहानी, संस्मरण, निबंध
कहानी संग्रह : फेंस के इधर और उधर, क्षणजीवी, सपना नहीं, दस प्रतिनिधि कहानियां
गद्य रचनाओं की पुस्तक 'कबाड़खाना' अत्यंत लोकप्रिय
संपादन : पहल (त्रैमासिक पत्रिका)

संपर्क : 101, रामनगर, आधारताल, जबलपुर-482004 (म.प्र.)
दूरभाष : 0761–2460393

जहां ढाई हजार फीट लगभग लंबी लेकिन बहुत साधारण-सी वादी खत्म होती है, वहां से लगभग पचास कदम बाद की ढलान पर यह तिराहा है. बहुत एकांत और अनाकर्षक तिराहा. इस जगह से कभी-कभी एक-दो मोटरें, एक-दो घंटे का अंतर देकर बसें, चरमराती बैलगाड़ियां और किसी बस्ती को पास के बाजार से लौटते साइकिल सवार रोजमर्रा आते-जाते रहते हैं. इसीलिए यह तिराहा बहुत एकांत और अनाकर्षक है. इसके इर्द-गिर्द कोई जानदार बस्ती नहीं है. घाट वाले रास्ते को काटकर तिराहा बनाने वाली सड़क के कोने में एक भूरी-सी गंजी टेकरी है. बिल्कुल सपाट बंजर और बांझ टेकरी. वो भी मिट्टी की, पत्थर की नहीं. हां, उसके अगल-बगल जरूर कुछ छोटे-छोटे जमे हुए पथराव हैं. एक सड़क महोबे की तरफ और घाट वाली छतरपुर की तरफ चली गई है. वैसे आगे जाकर इस सड़क से थोड़ी दूर पर कई रास्ते फूट जाते हैं.

आज इधर से आने-जाने वाले लोगों को इस तिराहे पर रुकने का कोई लालच नहीं है. तीन-चार मील दूर तक बस ढाक और रेंड के जंगल. मीलों फैला जंगल. कहीं भी खेत नजर नहीं आते, किसी वस्तु के पीछे कोई चमकता इतिहास नहीं. पर उस भूरी टेकरी के नीचे ठीक कोने पर घटे हुए जीवन का एक बहुत ही लघुकालिक इतिहास है. उस फौज से भागे आदमी का इतिहास. पूस की कड़क रात में ग्राहकों की खातिर भीगते हुए मीलों दौड़ने-भागने का दृश्य, उस छोटे से व्यापार की तड़प और सबसे बाद एक ठिठुरती मौत का करुण चित्र. सामबहादुर को आज इन अपेक्षाकृत अच्छे दिनों में भुला सकना मेरे लिए संभव नहीं हो सका.

उस कोने पर एक गुमटी थी. मेरी और सामबहादुर की गुमटी. पर वह गुमटी वैसी नहीं थी जैसी कि आम तौर पर होती है. वह बड़ी गरीब और मेहनत से बनाई गई गुमटी थी. यहां पर मोटर वाले अमीर और ढोर चराने वाले गरीब मौका पड़ने पर चाय पी लिया करते थे. सामबहादुर के बेडौल हाथों की चाय, जिसको पिलाने के बाद वह कभी किसी को मुस्कराकर सलूट करना नहीं भूला. सामबहादुर आज की दुनिया का आदमी न था. जब टौलागंज नेपाल में उसके खेत कर्ज के बोझ से बिक गए तो वह अपनी औरत को छोड़कर हिंदुस्तान भाग आया था. बहुत दिन इधर-उधर भटकने

के बाद वह मेरठ छावनी में सिपाही बनकर भर्ती हो गया. यह दूसरी बड़ी लड़ाई का समय था.

लेकिन लड़ाई खत्म होने से पहले ही बहुत सारे सिपाही हिंदुस्तान लौटे. उनमें सामबहादुर भी था. मेरठ आते ही वह वहां से किसी तरह भी भागने की फिराक में लगा रहा क्योंकि यह फौजी जिंदगी उससे निभने की नहीं.

मुझे वह भेंट अच्छी तरह याद है. सहारनपुर जेल से छूटकर मैं मीलों भागा, जैसे मुझे कोई पकड़ लेगा और फिर स्टेशन.

हां, अच्छी तरह याद है कि वह देहरादून एक्सप्रेस ही थी. बड़े से डिब्बे के एक कोने में सबसे अलग दुबका हुआ मैं. गाड़ी की रफ्तार पूरी तेजी पर थी. डब्बे की ठंड और रुआंसी-सी बत्तियों की रोशनी में सब सम्मोहित और सोये हुए. बाहर के अंधेरे घुप्प में चुराई निराश दृष्टि गड़ाता रहा. मेरा रास्ता अंधेरे में ही था और मैं उसे खोद-खोज रहा था.

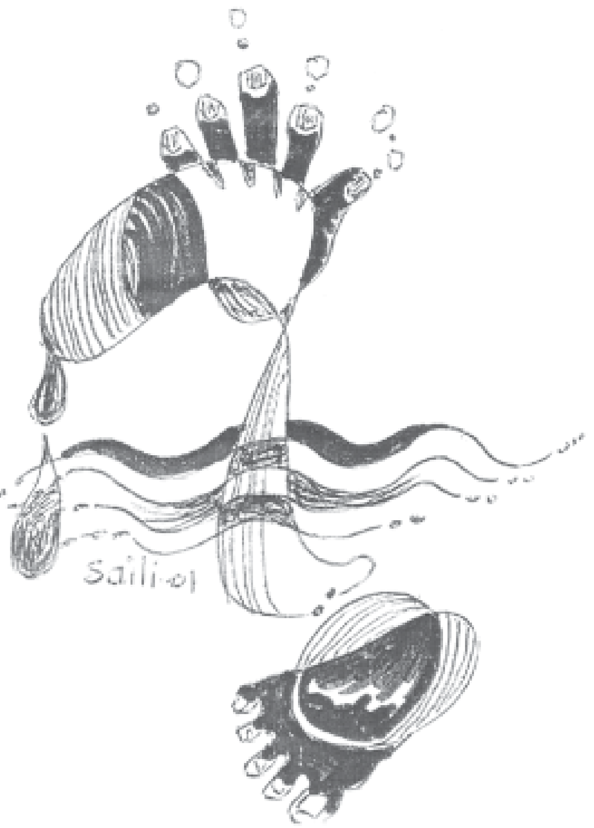

मेरा कोई नहीं. अब कहां जाऊंगा? फिर घुटनों को सीने से भींचकर नींद खींचता रहा. पर ठंड और नींद का रिश्ता निकट नहीं आया. फिर एक झपकी और उसका खटके से टूटना. तब रेलगाड़ी कहीं रुकने के बाद नए सिरे से रेंगती हुई खिसक रही थी. मुझे लंबे-चौड़े कोट में लिपटे एक आदमी को अपनी बगल में बैठे देख अच्छा नहीं लगा. डब्बे में काफी जगह थी. फिर भी मेरे बगल वाला वह आदमी बहुत मीलों तक अपने को छुपाता रहा. और उसके पास एक खाकी-सा कंबल देख मेरे शरीर की ठंड बढ़ती रही. इसके बाद दिल्ली से कुछ पहले ही हम दोनों धीरे-धीरे खुल गए. और मुझे उसके खाकी कंबल को लपेट गर्मी पाने का सुख भी मिला. वह मेरठ छावनी से रात के चुपचाप में घबड़ाकर भागा हुआ पहाड़ी सामबहादुर था. फिर मेरे न चाहते हुए भी दुख और अनिश्चित भविष्य के अंधेरे कपाटों ने हमें आपस में प्रगाढ़ कर दिया.

उसके बाद कुछ दिनों तक मैं और सामबहादुर दोनों हार्डिंग सराय और पचकुंइयां रोड पर डबलरोटी और लेमनचूस बेचा करते थे. सामबहादुर के पास उस ओवरकोट और कंबल के अलावा सातेक रुपये भी थे. और मेरे हाथों को जेबों की बहुत उधेड़बुन करने के बाद भी टूटते सूतों के अलावा और कुछ न मिलता. फिर भी कुछ दिनों तक डबलरोटी और लेमनचूस बेच-बाचकर हम दोनों किसी भी प्रकार अपना पेट पालते रहे. पर बहुत जल्दी ही वह सातेक रुपयों वाली पूंजी भी चुक गई और यह सब कुछ चल न सका तो नौकरी करने की फिकर हुई. पर हम सरीखे खानाबदोशों को उस समय की परेशान और अस्तव्यस्त दिल्ली में कोई नौकरी मिलना मुमकिन नहीं हुआ. उस समय तो बस फौजी तरह की नौकरियां ही आसानी से मिल जाती थीं. फिर भी सामबहादुर को बराबर यह डर बना रहा कि कहीं वह फिर न पकड़ लिया जाए. वह भागा हुआ जो है. बीस-बाईस दिनों में ही हमने दिल्ली छोड़ दी.

दिल्ली छोड़ने के बाद भूखी आत्मा का बोझ जिंदगी के लड़ैते मोह पर लादे हम इधर-उधर घूमते रहे. दो महीने से ऊपर झांसी और सतना में कुलीगिरी की. फिर इस तिराहे पर चाय की गुमटी खोलने की हिम्मत हमने कर डाली. इस निर्णय पर हम लोग बड़ी मुश्किल से पहुंच पाए थे, क्योंकि पैसे के मामले में हमारे जेब पूरे निठल्ले थे. लेकिन गुमटी बनाने में पैसे की बात हमारे सामने नहीं आई. हां, मेहनत और पसीने का भाव बहुत ऊंचा रहा.

पांच-छह दिनों में जाकर गुमटी बनने का काम शुरू हुआ था. ढाक वन के उन धूप टन्नाते दिनों की याद अभी गायब नहीं हुई है. पत्थर ढोते हम हांफ जाते, लेकिन किसी लापता आस के कारण हमारी आंखों में आशा नहीं चुकती थी. सामबहादुर पहाड़ी स्नेह से मेरे माथे की चुहचुहाअट पोंछता हुआ मुझे किसी छितरी छाया के नीचे बिठा देता; मेरे लाख नकारने के बावजूद भी. रात को जेठ की गरम चांदनी में उमस के मारे जब भूखी नींद तलफलाती और सूखे पत्तों की विचित्र आहट में करवट बदलता हुआ मैं फक से आंख खोल देता तो सामबहादुर बगल में न दिखता. थोड़ी देर बाद टेकरी के शैड से बोझीली चाल में छोटे-छोटे पत्थरों की सिल्लियां ढोता आता. उस समय सामबहादुर की भक्ति में गदगदाकर चुपचाप पत्थर लाने के लिए मैं स्वयं भी ढलान में उतर जाता. थोड़ी दूर जाना पड़ता था. जब लौटता तो सामबहादुर आराम करता होता और मुझसे सोने के लिए बोलता.

हमने किसी रात चमकती अशर्फियों, उड़ती परियों या राजा रानी का सपना नहीं देखा. हां, इस मासूम-सी गुमटी की बदौलत

किसी तरह बचे-खुचे दिनों के दुख खत्म हो जाने की असीस हम परमात्मा से जरूर मांगते थे. सामबहादुर को अक्सर उस पथरीली गुमटी में एक सपना आता. उसकी दुकान के सामने से आजादी का जुलूस जा रहा है. उस सबेरे वह अपने मोटे सुर में कुछ गुनगुनाता रहता. कोई पहाड़ी धुन. मैं परेशान होता कि सामबहादुर केतली, चाय, गिलास और दूध-चीनी आदि के लिए कैसे इंतजाम करेगा. पर टोकने पर हर बार सामबहादुर ने न जाने किस आशा से मुझे हमेशा टाल दिया.

सामबहादुर बाजार से वापस आया. भरी दोपहर में टाट के खुरदरे दो झोलों में कुछ भरे हुए. मुझको उत्सुकता से भरता हुआ और अपने को बनी हुई मुस्कराहट से. वो मुझे शीशे के गिलास, अल्युमीनियम की केतलियां, चूरे वाली चाय के डब्बे, छन्नी और शक्कर का थैला दिखाता रहा. फिर एक बीड़ी का बंडल, माचिस, ढिबरी और पसेरी भर आटा. मैं इन सब चीजों को देखने से अधिक इस बात से हैरान था कि सामबहादुर को पैसे कहां से मिले?

''क्यों साम! तुमको यह सब किसने दे दिया?'' अंदर ही अंदर खुश होते हुए पूछा था.

''ये देखो! मैं दो चाय के पोस्टर भी कबाड़ से लाया हूं, और साथ में दो पैसे की कील." कहकर सामबहादुर ने उन गोल मुड़े हुए कागजों को सीधा कर दिया. दोनों लिपटन के हरे लाल एक ही तरह के पोस्टर थे. मेरा प्रश्न उड़ा दिया गया था.

इधर मैं उस छोटे से सामान के ढेर में नजरों को सरसराता रहा. आधी दर्जन छोटी और दो बड़ी गिलासें थीं और दो ही केतलियां साधारण साइज की.

उधर सामबहादुर पुलिया की दीवार पर पत्थर से पोस्टर ठोक रहा था. बीच-बीच में कभी मेरी तरफ और कभी तिमुहानी के इर्द-गिर्द देख लेता. लेकिन उसका ध्यान इस बात पर ज्यादा गड़ा रहा कि चाय का यह रंगीन पोस्टर उस सड़क पर आने-जाने वालों को अधिक से अधिक सुघड़ लग सके.

फिर सामबहादुर ने मुझे बुलाकर पूछा था, 'क्यों ठीक लगता है?' पर मैंने अनसुना करके पूछना चाहा. फिर पूछा भी था कि यह सारा सामान कैसे ले आया है. इसके बाद ही सामबहादुर बहुत रुआंसा हो गया. मेरे सवाल ने उसको कुरेद दिया था. वह सब कुछ बता गया. उसे इस बात की याद करके बहुत पीड़ा हो रही थी कि उसने अपने गले में पड़ा सोने का ताबीज बेच दिया है. सामबहादुर को शायद पहली बार इतने गहरे रूप में टौलागंज के उस बंजर पहाड़ी कस्बे की याद कौंधी. यह ताबीज उसकी दादी ने शादी पर पहनवाया था. दादी की दी हुई उस याद को जिसमें उसकी औरत भी जुड़ी है बीस रुपयों में बेच दिया है. वह ताबीज मसी सिंह आचार्य ने बनाया था जो उसके नामीगिरामी भगवान थे. ज्योतिषी भगवान ही होता है. दादी कहती थी कि इस ताबीज को पहन लेने से सामबहादुर की शादी के बाद के दिन अच्छे रहेंगे. कोई भूत-प्रेत नहीं सता सकेगा.

ताबीज के बिक जाने के बाद उसे दादी, बाबू-अम्मा और बीबी की याद बहुत आई. जिस दिन उसने ताबीज पहना उस दिन बड़ी धूमधाम थी और बकरे की बलि दी गई और उसके खून से मसी सिंह ने भोजपत्र पर मंत्र लिखकर खुद ताबीज में डाला था.

मेरा मन झुक गया. अपने दुख-दर्द के मोल पर किया जाने वाला उसका त्याग मैं भुला न सका. आज भी सोचता हूं तो हूबहू वही सब तैरने लगता है.

मुझे सामबहादुर की तरह घर की याद बहुत कम आती क्योंकि मां मेरे गंदे बदमाश बाप के लात-घूंसों से पहले ही मुक्ति पा चुकी थी और कोई स्मरणीय व्यक्ति मेरे पूर्व के जीवन में रहा नहीं था. इसलिए जब घर की याद आती तो घर मुझसे और दूर हो जाता.

हमारी इस गुमटी के पास-पड़ोस में गरीब और अमीर किसी प्रकार के घरों का वातावरण न था, न तो गोबर के उपले, गूदड़ मचिया, लाठी या भोंकते कुत्ते और न फूलों की क्यारियां, मेहंदी की बाड़ या घास की जमीन की नमदार सतह. हां, सड़क पर सब तरह की ऊंची-नीची चीजें जब कभी चलती-फिरती रहतीं, लेकिन हमारा कुछ न था. हमारी गुमटी चलती जरूर रही. डेढ़ पौने दो साल तक. लेकिन मरने-खपने के बाद भी किसी दिन चार-पांच आने से ज्यादा क्या बचता. हां, जाड़ों में कुछ और मिल जाता था. ट्रेफिक बंद हो जाने पर सामबहादुर पीछे की बस्ती से आटा मोल ले आता और दस बजे के बाद उसकी मोटी कच्ची रोटियां थोपकर हम बची-खुची ठंडी रोटियों के साथ उन्हें चाय में डोब-डोब कर निगल जाते. जो बच जातीं उनसे सबेरे का आहार होता. इस तरह एक स्थायी काम होने के उपरांत भी रोज कुआं खोदकर पानी पीने वालों की तरह हमारी हालत थी.

अक्तूबर के दिन, सामबहादुर को रात से ही खूब खांसी और हरारत थी. उस सबेरे मैंने अंगीठी नहीं सुलगाई. उस सबेरे पानी बरसा तो लड़का दूध भी पहुंचा गया. सामबहादुर की इच्छा के बाद भी उसे छोड़कर दूध लाने की बात में टाल-सा गया. उस दिन ऊपर से सहानुभूति दिखाने पर भी हमेशा की तरह आने वाली सवारियों, कंडक्टर और ड्राइवरों को चाय न मिलने पर मन ही मन बड़ी खीज हुई. सामबहादुर यह जानता था. शाम को जब वह थोड़ा अच्छा था तो सूरज के टेकरी के पीछे चले जाने के बाद बरसात की उस और अधिक गर्म शाम में हम देर तक बाहर जमीन पर टांग पसार बैठे रहे. हमारे अभाग्य का एक और अध्याय बढ़ना था, नहीं तो वह हमारी मामूली-सी गुमटी में आता ही क्यों? बड़ी अपमानजनक और अभूली शाम थी वह हमारी जिंदगी की. एक अंग्रेज साहब ने गाली देकर हमसे चाय मांगी थी. वह कुछ मेमों को लिए शायद खजुराहो से वापस लौट रहा था, एक नीली-सी मोटर में. उसके आते ही शराब की तेज

बदबू आसपास फैल गई. मेरे चाय न दे सकने की लाचारी दिखाने पर उसने हाथ के रूल से मेरे गले पर जोर की चोट की और सामबहादुर के पांव को लड़खड़ाती ठोकर. इसके बाद वह बड़बड़ाता हुआ मोटर पर बैठकर चला गया. मैंने भद्दे ढंग से न जाने कितनी गालियां दीं. पर सामबहादुर का मन तिलमिलाती घृणा और विद्रोह से उबल गया. वह तमतमाकर कांप रहा था. मुझे चोट लगी थी पर उससे अधिक पहली बार मैंने गरीब मन पर गुलामी का नंगा वार सहा था. उधर घाट पर उस जानवर अंग्रेज की मोटर चढ़ती रही होगी. इधर उत्तेजना में सामबहादुर के मन पर दिल्ली के जुलूस चल रहे थे. वह बुदबुदाया—हिंदुस्तान को आजादी जल्दी मिलने वाली है तब देख लेंगे, सालों...को.

सामबहादुर की तबियत तो ठीक हो चली थी, पर हमारे बुरे दिन और बदतर होते गए. पहले सामान खरीदने के लिए पैसे निकालने के बाद रोज पांच आने लाभ के मिल जाते थे पर कुछ महीनों में वह फायदा भी दूभर हो चला. पता नहीं किसी नए कायदे से उस तिराहे पर अब मोटर, बसें नहीं रुकतीं. केवल छतरपुर जाने वाली तीन बसें रुकतीं जो कभी भी रुकना बंद कर सकती थीं. अक्सर चार-पांच दिन हम अधपेट ही गुजारते, फिर किसी तरह पेट भर जाता या कभी भूखा ही रहना पड़ता. सामबहादुर का गठा शरीर मुझे अब छलनी दिखाई देने लगा था और सामबहादुर भी मेरे बारे में ऐसी ही बात कहता. फिर भी गुमटी के प्रति हमारा लगाव किसी भी सलोनी जिंदगी के मूल्य से कम नहीं रह गया था. कई तरह की ताकतवर परिस्थितियां उसे बंद करने, बरबाद करने के लिए उतरतीं पर हम तड़पड़ाकर उन्हें कमजोर कर देते.

इसके बाद सामबहादुर के साथ बरसात और जाड़े के वे कड़कते अंतिम दिन. तीन दिन से जल्दी न हटने वाले बादल एक सांस में बरस रहे थे. अपने को खाकी कंबल और ओवरकोट में लपेटे हम बैठे ही रहे. कोयला भी न था कि सिगड़ी गरम कर लेते, फिर पैसे भी नहीं रहे कि कोयला ही आ सकता. छत के ऊपर धार की तेज आवाज और मुंह तथा बालों पर गिरने वाली बौछार की बूंदों से हम पनाह मांग रहे थे. फिर भी तब तक संतोष से झेलते रहे जब तक कि तीसरी शाम पानी काफी थम न गया. चाय बनाने के लिए न तो कुछ सामान था और न पैसे. भूख से शिथिल बेचैनी का कष्ट. सामबहादुर ने कहा कि हमें घाट पार वाले बाजार में चलना है. मैं कंबल लपेटे था और सामबहादुर ओवरकोट. चुपचाप उस अंधेरे घाट को हम दोनों ने जिंदगी के पुराने दिन याद करते हुए पार किया. सर की सुरक्षा टाट से की थी पर रास्ते में ही पांव बरफ हो गए थे.

बाजार के एक बनिये को बहुत खींचतान के बाद सामबहादुर ने अपना ओवरकोट पांच रुपए में बेच दिया. एक मायने में उस ओवरकोट के पीछे किसी की जिंदगी बिक गई. कुछ आने में हम दोनों ने वहीं बाजार में तेल की तरकारी और आटे की धूल मिली चपातियां खाकर अपनी भरपूर तृप्ति की. फिर भी रुपए बचाकर मेरे लाख मना करने के बाद भी सामबहादुर ने बाकी पैसों की चाय और चीनी खरीद ली. गुमटी पर आ जाने वाले गिने-चुने ग्राहकों को चाय पिला सकने के लिए. रात बारह के बाद ही हम वापस लौट सके. रात भर अनिद्रित एक कंबल में लिपट-लिपटकर हमने जोड़-जोड़ में ठंड भर ली. शायद रात के कई घंटों सामबहादुर बिना कंबल के रहा. असहनीय ठंड में मैं कंबल अपनी तरफ खींच लेता. झूठ बात नहीं, ऐसे मौके पर मुझे सामबहादुर की अपेक्षा अपनी जिंदगी का अधिक मोह लगा. बेचारे सामबहादुर ने मुझको जिंदा बचा सकने के लिए ऐसे खौफनाक क्षणों में भी मेरे जैसा काम नहीं किया.

सवेरे-सवेरे सामबहादुर की जिद से मुझे कोयला और दूध लेने जाना पड़ा. मैं यह अतिरिक्त कष्ट झेलना नहीं चाहता था. मैंने मन को इस तरह समझाया कि सामबहादुर में लड़ने की ताकत मुझसे अधिक है और कंबल ले जाना चाहा. पर पता नहीं क्या सोचकर सामबहादुर के कंबल देने पर भी मैंने वह उसे ही उढ़ा दिया. इसके बाद दूध का बर्तन और कोयले का झोला उठाए सड़क पर चला गया. सामबहादुर पत्थर पर लेटा कंबल लपेट गुड़मुड़ा गया. लौटा तो अंगों को बुरी तरह चिपटाए वह कांप रहा था. मुझे थोड़े पास से ही सामबहादुर के स्वरों की घरघराहट और होंठों की थरथराहट सुनाई दे रही थी. वह बुरी तरह ठिठुर रहा था. इसके बाद वह बिन शब्द निकाले सिमटता गया. मैं असहाय देख रहा था. हतप्रभ. कुछ न कर सका और सामबहादुर मेरे पुकारते ही पुकारते ठिठुर गया.

मुझे विश्वास नहीं था कि सामबहादुर इतनी जल्दी मर सकता है.

सामबहादुर को देश की आजादी देखने की बड़ी तमन्ना थी, पर वह देख नहीं पाया. तिउरस साल पंद्रह अगस्त को जब हिंदुस्तान को आजादी मिली तो बरसों बीत जाने के बाद भी भावावेश में मैं उस तिराहे की तरफ गया था. सब तरफ बड़ा जोश था पर यह तिराहा उपेक्षित उदासी में ही सुनसान था. मेरी जेब में तिरंगी झंडियां थीं, पर वहां कुछ भी ऐसा नहीं बचा मिला जिसकी खातिर यहां झंडियां फैलाता. सामबहादुर होता तो शायद गुमटी को खूब सजाता और पहाड़ी गीत गाता.

आज बरसों बाद मैं तिराहे पर हूं. गुमटी का नामोनिशान नहीं है. मैं शाम भर वहीं बैठा रहा. आज पुलिया की दीवार चूने से खूब सफेद पुती है और उस पर झंडे के रंग की चौड़ी चमकदार धारियां हैं. अब पुलिया की दीवार और सुंदर लगती है, पर उस पर चिपका हुआ लिपटन का हरा लाल पोस्टर गायब हो चुका है.

(राजकमल प्रकाशन से संग्रह शीघ्र प्रकाश्य)

❐

कहानी

काहे होत अधीर

•

उषा किरण खान

जन्म : 7 जुलाई 1945, (बिहार)
कृतियां : पानी पर लकीर, फागुन के बाद, सीमांत कथा, रतनारे नयन (हिंदी), अनुत्तरित प्रश्न, हसीना मंजिल, भामती, सिरजनहार (मैथिली) (उपन्यास); गीली पॉक, कासवन, दूबजान, विवश विक्रमादित्य, जन्म अवधि, घर से घर तक (हिंदी), कॉचहि बॉस (मैथिली) (कहानी संग्रह); कहां गए मेरे उगना, हीरा डोम (हिंदी), फागुन, एकसरि ठाढ़, मुसकौल बला (मैथिली) (नाटक)

संपर्क : 1 आदर्श कालोनी, श्रीकृष्ण नगर, पटना-800001
मो. : 8987041722
ईमेल : ushakirankhan@yahoo.co.in

सोभन एक अच्छा नाविक था जबकि वह नाविक जाति का नहीं था. इस जलप्रांतर में केवट होने की जरूरत नहीं थी नाविक होने के लिए. नाव लग्गा से सबका नाता था. साल के कई माह, घास काटने, हाजत जाने तथा छोटे मोटे सौदा सुलुफ लाने के लिए नाव लग्गा की जरूरत थी. सभी को नाव चलाना आना ही था. पर सोभन बड़ी-बड़ी नावें चलाकर दूर गंतव्य तक सुरक्षित ले जाता था. गहरी नदी हो, भंवर पड़ रहे हों या धारा तेज हो बड़ी आसानी से पार कर लेता सोभन. यही तो विशेषता थी कि उसे श्रेष्ठ नाविक माना जाता. पर सोभन को यह सुनना अच्छा नहीं लगता. वह संकोची किस्म का व्यक्ति था. एक बार उससे जूट लदी नाव पलट गई थी. नाव नदी के किनारे पलटी थी, सारी गांठें मिल गईं. पर सोभन उसे भूल नहीं पाता. हमें किस्सा सुनाता–''उत्फाल कोसिका के जब्बर मुंह से नाव निकाल लाए. नाव बड़ी थी जिन्सी, सत्तर गांठ पटुआ सोनापाट लदी थी. गांठ क्या था, टका की गड्डी. मालिक का बहुत काम निकल जाएगा. बहुत मंहगा बिकता है. पर नाव किनारे से तिरछी लग गई. उसको सीधा करने में चाल बिगड़ गई नाव उलट गई. रच्छ रहा कि मालिक उतर गए थे, नहीं तो अनहोनी हो जाती.''

अधेड़ सोभन के कुछ खेत थे, कुछ और लोगों से बटाई लेकर धान मूंग उपजाते. दो बेटियां थीं और एक बेटा था. आंगन में घर, गोठूला था. घरनी होशियार थी सो कोठी (मिट्टी के अन्न रखने वाले पात्र) बनाकर चावल गेहूं मूंग वगैरह रखती. पिछवाड़े में साग, सब्जी, लत्ती फत्ती लगा रखा था. गाय-बैल और भैंस पाल रखा था जिसकी सेवा घरनी बड़ी बेटी के साथ मिलकर करती. सोभन बेफिक्र होकर मालिक के बाल-बच्चों को लाने पहुंचाने नाव लेकर जाता. दिन अच्छे कट रहे थे कि एक भयंकर झटका इसे अवसन्न कर गया. घरनी को पिछवाड़े में सांप ने काट लिया, जब तक ओझा गुनी बुलाएं जाते वह चल बसी. पूरा गांव सकते में आ गया. वैसे यह गांव छोटा सा था पर तीन चार जाति के दो धर्मों के मानने वाले थे. गांव के सारे स्त्री-पुरुष, बच्चे-कच्चे श्मशान गए थे. सब की आंखों में आंसू थे. क्रिया कर्म खत्म होने के बाद सोभन की बुआ जो क्रिया कर्म में आई थी उसने उसके गंजे माथे में तेल मलते हुए कहा–''बबुआ, दुलहिन तो सरंग (स्वर्ग) गई हम नरक भोग रहे हैं मर्त

(मर्त्य) लोक में, साहेब का करिश्मा. अपने हाथ में कुछ नहीं. बबुआ, गोसाई साहेब कहते हैं, बीती ताहि बिसारि के आगे की सुधि ले. बुआ कबीरपंथी, सत-संगी थी सो कबीर रैदास कभी कभी तुलसी भी सुनकर याद रखती थी. कभी कभी उसे सुना अपना रौब भी जमा लेती थी.

''सुन रहा है न जो हम कह रहे हैं?''

''जी, सुन रहे हैं.'' अन्यमनस्क सोभन ने कहा.

''तो सुन, बिहुन घरनी घर भूत का डेरा. अपनी सुरजी भी सयानी हुई, कुटुम गौना मांग रहा है, कितना दिन टालोगे उसे ससुरा भेजना ही पड़ेगा. कि नहीं?''

''हूं'' कहा सोभन ने.

''बौआ चंदन छोटकी रून्नू को कौन देखेगा? तुमको एक कौर भात टभका के कौन खिलाएगी?''

''तो हम क्या करें? हमको नहीं आता है कुछ भी.''

''इसीलिए तुमको बियाह करना होगा.''

''ई उमेर में, तीन बच्चा वाले से कौन करेगी बियाह?''

''एगो हमारी गोतनी की भतीजी है. हिरनी गांव की है उसका पुरुष मर गया है. दू ठो बच्चा है. जवाने है, उससे कहो तो बात चलाएं. दू ठो पछलगवा है तो क्या होगा? बड़का बेटा अपने चंदन के बराबर है बेटी अपनी छोटकी रूनू के बराबर. हिरनी वाली बहुत सुन्नर है. खूब गोरी रजपुतनी जैसी. ऊंची पूरी भरा भरा शरीर. कहो तो बात चलावें.''

''हम क्या कहें, तुम लोग जानो.'' कहकर सोभन ने स्वीकृति दे दी. महीना दिन के अंदर सोभन उससे समध (संबंध) करके घर ले आया. सचमुच हिरनी वाली चांद सी सुन्दर और गोरी थी. शौकीन भी खूब थी. उसके आने के छह माह बाद बड़ी बेटी सुरजी गौने पर ससुराल चली गई. अब तक घर की मालकिन वही थी. हिरनी वाली को चावल भरी कोठी, तरतीब का घर सेंत-मेंत में मिल गया पर खाना पकाने की जहमत भी सर आ गई. जैसे तैसे खाना बना तो लेती पर सोभन चंदन कौन कहे अपने बेटे दिनेश को भी खाना अच्छा न लगता. वो तो गाय लगहर थी सो दूध से बच्चे तुष्ट हो जाते. सोभन को उसनवेली का यौवन और श्रृंगार मोहे रहते. वैसे भी वह शांत व्यक्ति था. हिरनी वाली सभ्य स्त्री थी, किसी बच्चे को किसी प्रकार की प्रताड़ना नहीं देती. किसी की शरारत पर गुस्सा भी नहीं करती. बच्चे खेलते रहते तब तक ठीक था जब लड़ने लगते तब स्थिति अधिक अजीब हो

रूनू अपने ससुराल में सुघड़ बहू के रूप में ख्यात थी, सो झुमकी के लिए एक अच्छा-सा लड़का मिल गया. वह पढ़ा-लिखा नहीं था, पर कर्मठ था. रूनु की तरह झुमकी भी खूबसूरत और सुघड़ थी, वर की मात्र मां थी, घर घरारी के अलावे मात्र दस कट्ठा खेत था. शादी में रूनू और सुरजी भी आई थीं. सुरजी कुछ देर से ही आ पाती. उसके पति पटना सदर में रहकर रिक्शा चलाते थे.

जाती. न तो मां न पिता कोई बीच बचाव न करते. चंदन गाय-भैंस की देखभाल करता पर दिनेश ने कभी उन्हें एक बाल्टी पानी भी नहीं पिलाया. दिन जैसे-जैसे बीतते गए दिनेश शोख और फैशनेबुल होता गया. जबकि चंदन पहले ही कंठीधारी था अब गले में रुद्राक्ष की माला भी धारण करने लगा. वह अधिक चुप्पा हो गया. समय अपनी चाल से चलता है. चंदन सुदर्शन युवक हो गया. वह गांव की खेती किसानी, पशुपालन में मन लगाता. दिनेश गंवई जत्थों के साथ दिल्ली पंजाब पैसे कमाने चला गया. कोसी में जानलेवा जल का प्रकोप हुआ. लोग विस्थापित होते, स्थापित होते तटबंध के बाहर भीतर करते रहे. खेती चौपट हो गई. माल मवेशी बीमार पड़ने लगे. घर हर साल दह भंस जाता. चौमासा में चंदन भी बंगाल की ओर काम करने जाता फिर चला आता. मड़ुआ मकई और मोटा धान थोड़ा-बहुत उपजा लेता. बहुत जीवट का आदमी था. गाय-बकरी अब भी पालता. पूरा परिवार कबीरपंथी वैष्णव था सो साग-पात ही भोजन था. प्रकृति के प्रकोप को जैसे नहीं रोका जा सकता है वैसे ही शरीर की बाढ़ को भी कहां रोक सकते हैं? सारे बच्चे बड़े हो गए सोभन के. यह तो भला हुआ कि हिरणी वाली के कोई संतान सोभन से नहीं हुई . पर दो पिछलगुआ बच्चे तो थे जिसका पूरा दायित्व सोभन पर अनायास आ पड़ा था.

गांव में एक शादी थी उसमें सोभन की पत्नी का चचेरा भाई आया था. सौजन्य में सोभन की मुलाकात हुई. सोभन के आंगन में चटाई पर आकर वह बैठे. छुटकी ने लोटे में पानी दिया पीने को.

''ये तुम्हारा मामू है बेटी आज सुधि आई है'' सोभन ने कहा छुटकी ने झुककर पैर छुए. हिरनी वाली शादी वाले घर में गाना गाने गई थी. सजधज कर गांव घूमने का मौका वह कभी न छोड़ती.

''बिटिया तो बांस-सी लंबी हो गई पहुना'' मामू ने कहा.

''हं, हो तो गई है.''

'कहीं कुटुमैती लगाया क्या?''

''नः, कहां?''

''कुछ गुन सिखाए हैं कि कमठौनी रोपनी खाली?''

''गांव में इसकूल है न, बुचिया चौथा पास कर गई.''

''अच्छा!'' साले साहब ने उसांस छोड़ी.

''काहे पूछ रहे हैं कुटुम, ई तो समझिए कि मालिक एक इसकूल खोल गए सो बच्चा बच्ची दू आखर पढ़ लेता है.''

''एगो लड़का है मैट्रिक पास, अभी अभी लोअर इसकूल में मास्टर लगा है. पक्का भितघर है खपड़ा से छवाया हुआ. एके ठो बेटा है छ गो बेटी के बाद, बड़ा लाड़ला है, ऊ औंठा छाप लड़की से शादी बियाह नहीं करेगा. एक से एक कुटमैती

टाल देता है.''

''हमको एके बेर बुरबक समझ लिए हैं कुटुम? हम गरीब आदमी कहां से उनमें सकेंगें?'' सोभन बोले.

''आपको आठ कट्ठा का घरारी है पांच बीघा जमीन है आप गरीब कहां हैं पाहुन? ई तो कोसिका महरानी का खेला है जादे दिन नहीं चलेगा. मैया धन-जन से भर देगी.''

''मोलम्मा न दीजिए. आजकल बुल्लेट से नीचे कोई बाते नहीं करता है.''

''ए महराज, बुलेट का जमाना गया अब हीरा होंडा मांगता है.''

''तब? काहे फालतू बात करते हैं?''

''एक तरकीब है पाहुन, लड़का की फूआ की एक बेटी है. बड़ी सुन्नर कड़क्का जवान. फूआ उसको जनम देकर मर गई. उसका बाप दूसरा बियाह कर लिया. जानते ही हैं मांएं मरे से बाप पितिया हो जाता है.'' सोभन ने उसे घूरकर देखा.

''अह्ह, आपकी बात कुछ और है, आप देवता आदमी हैं. खैर, तो मामा मामी उस बच्ची को अपनी बच्ची के जैसा पाले. ऊ गोलट करने को तैयार हो जाएंगे. लड़िका खोज रहे हैं मुफ्ती.''

''आंए?'' चौके सोभन.

''हं पाहुन, अपना चंदन से ऊ बुचिया का जोड़ी खूब फबेगा और अपनी चौथी पास छोटकी मास्टरनी बन जाएगी. बस.'' दोनों हाथ पटककर ताली बजाई मामू ने. सोभन सोच में पड़ गए.

''देखिए, हम हिम्मत न करेंगे. आप ही...'' सोभन ने कहा.

''बिल्कुल पाहुन, आप चुपचाप रहिए. हम बुचिया, बाबू के मामू हैं न! समय पर आपको ले चलेंगे.'' कहकर, सीकी की डलिया से दो टूक सुपारी उठाकर चलते बने. सोभन सोचते बैठे रहे. सांझ ढल रही थी. छोटकी लालटेन मांजकर, बत्ती साफकर जला गई, छप्पर की बत्ती में कड़ी फंसा गई.

''बाबू हम शादी के घर जा रहे हैं, मैया और झुमकी वहीं हैं.''

''जाओ. चंदन को भेज देना.'' सोभन ने कहा और खाट गिराकर लेट गया. सोचने लगा चंदन की माई कितनी समझदार और गंभीर स्त्री थी. इसको कुछ सोचने का अवसर नहीं देती. हिरनी वाली बहुत अच्छी है पर समझदारी तो है ही नहीं. उससे कोई राय विचार लेना बेकार है. पर घरनी तो वहीं है, दामाद वही परिछेगी, पतोह इसी अंगना में उतरेगी. सोच ही रहा था कि चंदन आ गया.

''सांझे खटिया पर पड़ गए हो बाबू, मन मिजाज ठीक है न!'' बेटा चंदन माथा छूकर वहीं चटाई पर बैठ गया.

''सब ठीक है, तुम्हारा चचेरा मामू आया था उसी से गपशप कर रहे थे.''

''मामू बहुत भांजता है, माथा दुख रहा होगा.'' वह सर दबाने लगा.

''एक जरूरी बात कह रहा था छोटकी रूनू के वास्ते.''

''शादी के लिए न? क्या कहा?''

''एक मास्टर लड़का बता रहा था.''

''वाह, बढ़िया पर खर्चा?''

''खर्चा तो पड़ेगा ही.''

''बाबू दूनू बैल....'' सोभन ने हाथ उठाकर चुप करा दिया.

''चंदन, मास्टर लड़का के बाबू की एक टुग्गर भगिनी है उसकी शादी अगर तुमसे हो जाय तो छोटकी रूनू को बिना तिलक दहेज के ले जा सकते हैं.'' कहकर बेटे की तरफ देखा सोभन ने. लालटेन की पीली हिलती डोलती रोशनी में चंदन के चेहरे का परिवर्तित भाव बिला गया. क्षणांश में वह प्रकृतिस्थ हो गया.

''छुटकी के लिए अच्छा घर वर हो जाय तो तैयार हो जाओ बाबू.''

''तुम तैयार हो?''

''तुम कहोगे और हम नठ जाएंगे?'' सोभन ने बेटे का घना काला केश सहलाया. कितना समझदार है मेरा बेटा, सचमुच चंदन है, अपनी मैया की तरह शीतल. अब वह साले साहब की राह तकने लगा. अभी हिरनी वाली को कुछ न कहा. वह हल्की इतनी है कि सारी बातें जाकर गांव की औरतों को कह देगी. कच्ची बात को ही फैलाकर नष्ट कर देगी. देर रात गए तीनों स्त्रियां लौटीं. खाना कठौता भर आ गया. सब मिलकर आंगन में बैठकर खा पीकर सो गए.

हफ्ते भर बाद साले साहब आ धमके. उनकी बांछे खिली हुई थीं, यह देख सोभन समझ गए कि बात बन जाएगी. गोहाल के तरफ बड़ी चौकी पर मांजे चंदन के साथ सोने की व्यवस्था हुई. रूनू छुटकी ने स्वयं अपने हाथों से खाना बनाया मामू ने तारीफ कर-कर के खाया. कुटुम्ब लड़का और घर वर देखने आने वाले थे. अब हिरनी वाली को भी पता चल गया. घर आंगन लीपपोत कर ठीक किया गया. कुटुम्ब आए बेटे के लिए बहू और भाजी के लिए दामाद उन्हें पसंद आ गए. उन्हें पता था कि ये सब कर्मठ लोग हैं कोसी के मारे हुए हैं. दो दिन बाद सोभन भी जाकर लड़की और लड़के से मिल आए. फूल पान चढ़ा दिया गया. गंवई धूमधाम से शादी हो गई. मास्टर साहब को टीम टाम पसंद नहीं था, नेटुआ नचाना भी गवारा न था. वे नौकरी करते हुए आगे की पढ़ाई भी कर रहे थे.

हिरनी वाली की आंगन खूब गुलजार हुआ. उसकी खूबसूरत जवान बहू आ गई थी. बहू भी सास के नक्शेकदम पर चलने वाली थी. साज सिंगार में लगी रहती. खाना पीना बनाना गोबर गोयठा करना संभलता नहीं. गोहाल के एक हिस्से को घेरकर आंगन की तरफ रुख कर किवाड़ लगा दिया गया था. वही घर चंदन और नई दुलहिन का हो गया था. चंदन संकोची था पर दुलहिन मनचली थी. उसे लिपटाए रखती. सोभन निश्चिंत थे. एक बार बेटी दामाद अहोर बहोर कर गए थे. रूनू के चेहरे की रौनक देख साफ पता चलता कि वह प्रसन्न है, वह अब छुटकी नहीं रही. दामाद जी ने इंटर पास कर लिया था. उनकी फुफेरी बहन

यहां मजे में है यह देख वे आश्वस्त हुए. बहन के गुण अवगुण वे जान रहे थे. धीरे-धीरे कोसी ने बालुका राशि का ढेर लगा दिया. खेतों में अब उतना जल नहीं जमता. बालू के साथ फुलपांक भी कई जगह पड़ी. खेती का स्वभाव और तरीका बदल गया पर अब उपज होने लगी. चंदन की गाय के एक बछड़े का बधिया, नाथ हो चुका था, सिलेब रंग का बछड़ा था जिस पर बहुत लोगों की निगाह थी. परंतु चंदन ने उसका जोड़ा लगाना उचित समझा. वह सुदूर सोनपुर हाजीपुर के मेले में अपने ग्रामीणों के संग खरीदारी करने निकल गया. इधर दिनेश दीवाली की छुट्टी लेकर गांव आया. वह पंजाब में किसी फार्म हाउस में काम करता था. उसे आने जाने वालों से यहां का समाचार मिलता रहता. उसे पता था कि चंदन की शादी हुई है. छुटकी ससुराल चली गई. डेढ़ साल बाद आ रहा था सो भैया बाबू के लिए कपड़े, झुनकी के लिए सिंथेटिक साड़ी और माला मोती खरीद रहा था. नई भाभी के लिए भी कुछ न कुछ तो लेना ही था सो उसने काजल बिंदी पाउडर लिपस्टिक खरीद लिए. यह नहीं सोचा कि किसान की बीवी गांव में कहां यह शृंगार करती है. पता नहीं कैसी वेहाती मुच्चड़ होगी भौजी यहां तो पंजाब में एक नं. होती है. यह सोचकर उत्साहहीन हो चला.

गांव पहुंचते ही मन बैठ गया. बिजली बत्ती और पक्की सड़क से सीधे, कीच-कादो, लालटेन की रोशनी में पहुंचकर अवसादग्रस्त हो गया. पहुंचा तब शाम ढल गई थी. गोहाल से घूरे का धुआं उठ रहा था, कई दालान पर लालटेने टंगी थीं जो हिल डुल कर रोशनी की मद्धिम वृत्त बना रही थीं, इसकी आंखे अब इन दृश्यों को भूल चुकी थीं. पीठ पर बड़ा-सा बैग और हाथ में अटैची लिए जूते मचमचाता हुआ आंगन में प्रवेश किया. ''मैया, कहां हो?'' पुकारा दिनेश ने. मैया और झुमकी चटाई पर बैठी थीं, सोभन खाट पर लेटा था, एक आकृति साड़ी का हल्का घूंघट किए कोने में खड़ी थी. सोभन एक कहानी सुना रहा था. सब चाव से सुन रहे थे. कहानी उन दिनों की थी जब सोभन नाविक हुआ करते थे. दिनेश की आवाज से सब चौंक गए.

''अरे ई कोन फिरंगिया आ गया?'' हिरनी वाली ने बेटे के सर पर हाथ फेरते गद्गद् होकर कहा. दिनेश भैया के चरण छू रहा था. फिर सोभन की ओर बढ़ा. सोभन खाट पर उठकर बैठ गया. सामने नीले रंग के छलमलाते ट्रैक सूट में दिनेश खड़ा था. उसने खाट पर बैठने का इशारा किया. तभी घूंघट वाली एक लोटा पानी लेकर खड़ी हो गई.

''भैया, जूता उतारो, भौजी पैर धोने के लिए पानी लिए खड़ी है.'' गदबदे बदन वाली बहन झुमकी ने कहा.

''ऐं?'' कहा दिनेश ने और जूते का फीता खोला मोजे उतारे. आंगन के किनारे क्यारी के पास लोटा लेकर पैर धो लिए.

''गोर लागी भौजी'' कहकर दुलहिन के पैर छूने झुका कि वो दो कदम पीछे हट कर मुंह ढांपकर हंसने लगी. उसकी महीन खिलखिलाहट मैया और बहिन की हंसी के नीचे दब गई पर दिनेश के दिल में सुरसुरी पैदा करने के लिए काफी थी.

''तुम लोग बच्चे को खाने-पीने के लिए पूछोगे कि हंसी-ठिठोली में लगे रहोगे? थका-मांदा आया है.'' सोभन ने गंभीर आवाज में उन्हें टोका.

''पापा जी, हम रस्ता का कपड़ा उतार कुछ ढीला-ढाला पहन लेते हैं.'' दिनेश कहकर अपनी अटैची बरामदे पर ले जाकर खोलने लगा. बहन पप्पा जी संबोधन सुन फिर हंसने लगी. भौजी और भैया उसका साथ दे रही थी. दिनेश ने लुंगी निकाली और कपड़े बदलने लगा. दुलहिन चौके की ओर चली गई. खाना-पीना, गप्पें देर रात तक चलीं. कमरे से एक और खाट निकाल दी गई. सोते वक्त दिनेश ने पूछा

''चंदन भैया नहीं दिखाई पड़ रहा है.''

''बाछा का जोड़ा लगाने खगड़ा मेला गया है, नहीं पटेगा तो सोनपुर का रस्ता देखेगा.'' सोभन ने कहा.

''तभी तो.'' –सुबह आंखों पर तेज रोशनी पड़ी तब दिनेश की नींद खुली. वह हड़बड़ाकर उठ बैठा. आंगन लीपा पोता था. बाबू की खाट बरामदे पर थी. दुलहिन चूल्हे के पास थी. बाहर निकला तो देखा बाबू बछड़े और गाय को सानी खिला रहे हैं. मैया ट्यूबवेल चलाकर पानी भर रही है. झुमकी सामने खाली खेत में बकरी खुटेस (खूंटा गाड़) रही थी. उसने ट्यूबवेल के पास आकर मुंह-हाथ धोए. मैया का काम गोहाल वाला हो गया था. सोभन ने गोबर हटाया और हिरनी वाली ने खर्रा (कड़ा झाड़ू) से पूरा गोहाल बुहार दिया. बेटे के साथ आंगन आई. उसे पता था पहले यह चाय पीएगा तब जंगल की ओर हाजत को जाएगा. दुलहिन ने शीशे के गिलास में चाय थमाया. दिन में देखा भौजी गोरी न्यारी, स्वस्थ सुंदर युवती है. मन ही मन चंदन भैया से जोड़ी लगाने लगा. चंदन खूबसूरत जवान है पर सधुआया हुआ है. पता नहीं इस हंसमुख बीबी ने उसे बदला है क्या? चाय पीकर लोटा ले जंगल की ओर निकल गया. लौटा तो नहा-धोकर ही. दुलहिन ने पीढ़ा बैठने को दिया. थाली में चार पराठे आलू-परवल की भुजिया परोसकर सामने रख दिया, स्टील के साफ धुले लोटे में पानी, नमक और मिरचा. मैया चुपचाप देख रही थी

''भौजी, अचार है तो दो न!'' दुलहिन ने एक फांक आम का मसाला भरा अचार थाली में रखा.

''मैया, वहां ऐसा भरा-भरा मोलायम अचार कहां? कच कच, वह भी रिफाइन तेल का. हम तो तरस गए.'' बोलते हुए खाने लगा.

''ऊंह, तब भी तो दू बरिस पर आया है. मैया बहिनियां की सुध आई? बाबू बूढ़ा हो रहा है सोचा?' मैया ने उलाहना दिया.

''नहीं आए तो हमहीं न रह गए, न

बरियाती गए न रूनुआ के कहार बने.''

''अब चुपचाप गांव में रहो. देखो भैया अकेले पड़ गया है. एक से दो भला.''

''भैया को तो भौजी मिल ही गई है खाई पीयी हुई.'' उसकी ओर कनछिया के देख रहा था . वह मुंह दबाकर हंसने लगी.

''चौल (चुहल) न कर, भौजी घर धरूआर करेगी कि खेत पथार देदेगी?'' तभी झुमकी एक बाल्टी कपड़े धोकर आ गई. उसमें बाबू की लुंगी, दिनेश का ट्रैक सूट मौजा वगैरह था उसे आंगन की रस्सी पर फैलाती हुई बोली.

''मैयो, भैया को बिना बियाहे जाने न देना.''

''चुप पहले तुम्हारा तो हो जाए.'' भैया ने बरजा. नाश्ते के बाद दिनेश ने अटैची खोली. बाबू के लिए लुंगी और गंजी लेकर आया था. भैया के लिए कमीज और मैया तथा झुमकी के लिए छापे की साड़ी थी. भौजी याद न रही. माला, मोती, नेलपॉलिश, बिंदी और लिपस्टिक भी थे जिसे मैया ने दुलहिन को बांट दिया. उसके इसी व्यवहार के कारण गांव भर के लोग कहते कि ऐसी सतमाय अपनी माय से भी सुत्थर होती है. दिनेश ने भौजी से कहा

''अरे एक दिन बाजार चलें अपना पसंद से साड़ी दिला देंगे. मेरा भाई बड़ा सीधा है कुछ न बोलेगा.'' दुलहिन ने किसी तरह की प्रतिक्रिया न दी.

जब तक चंदन बछड़ा खरीदकर लौटा दिनेश भौजी से खासा नजदीक हो चला. उतना जितना चुप्पा चंदन अब तक न हो सका. देर तक दोनों गप्पें कर रहे होते .

रूनू अपने ससुराल में सुघड़ बहू के रूप में ख्यात थी, सो झुमकी के लिए एक अच्छा-सा लड़का मिल गया. वह पढ़ा-लिखा नहीं था, पर कर्मठ था. रूनु की तरह झुमकी भी खूबसूरत और सुघड़ थी, वर की मात्र मां थी, घर घरारी के अलावे मात्र दस कट्ठा खेत था. शादी में रूनू और सुरजी भी आई थीं. सुरजी कुछ देर से ही आ पाती. उसके पति

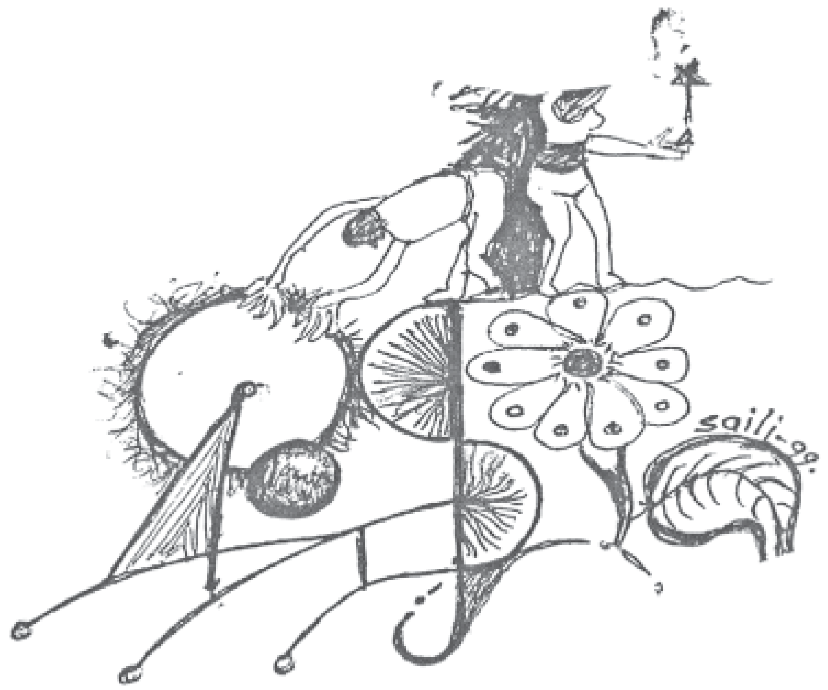

पटना सदर में रहकर रिक्शा चलाते थे. सौम्य शिष्ट थे सो कमाई अच्छी हो जाती. कई घरों के बच्चों को स्कूल छोड़ते, ले आते. बच्चों के गार्जियन का भरोसा था उन पर. अब दसियों साल रिक्शा चलाने के बाद उनके पास पांच अपना रिक्शा हो गया था. अपनी कमाई से उन्होंने कुछ जमीनें भरना पर ले रखी थीं जिसमें धान मड़ुआ रोपने वे चौमासा में आते. बाकी समय सुरजी ही सास ससुर, गाय भैंस और तीन बेटों की देखभाल में लगी रहती. फुरसत ही नहीं होती कि नैहर ससुराल करे पर मन अपने बाबू, भाई के लिए हुड़कता. इस बार सबों से मिलना हो गया. भौजाई और भाई से घुल मिलकर बातें हुई. सुरजी को समझ में आ गया कि उसका चुप्पा भजनी भाई भोला है, युवती भौजाई को सुखी नहीं कर पा रहा है. सामने दिनेश जैसा छैलचिकनिया देवर है. जर्जर बाबू और बेलौस मैया के सामने दिनेश की शादी करने की बात रखी.

''दिनेश भी फूटकर जवान हो गया है, कमाता भी है उसकी शादी कब करोगे?'' मैया हंस दी बेवकूफ की तरह बाबू ने बात को समझा. अपने चचेरे साले साहब को तलब किया. वे भी बुजुर्ग हो गए थे. बीड़ी फूंकते और खांसते हुए आए. सलाह मशविरा होने लगा. पूरी बीड़ी धूक के, मन भर खांस के मामू जी स्थिर हुए तो कहा–

''सुरजी बेटी, एक ठो पेंच है?''

''क्या है मामू?'' सुरजी ने पूछा, सब उनकी ओर देखने लगे.

''दिनेश के लिए हमने कई जगह बिना पाहुन और दिदिया के कहे बात चलाई थी पर सबने इसके आस-खास के बारे में पूछा. हम क्या बताते?'' सोभन की ओर देखा.

''हमरा आस-खास है कि नहीं?''

''आपका जमीन में आपका बेटा उसको बरोबर का हिस्सा देगा?''

''काहे नहीं?'' सोभन बोला

''बाबू, तुम यह कैसे कह सकते हो?'' सुरजी बोली .

''हम बार-बार कहते हैं दिनेशवा से कि अपना बपहिया के गांव आना जाना करो, मानता नहीं. हिस्सा तो वहीं हैं.''

तमककर हिरनी वाली बोली. उसका यह रूप सबने कभी पहले नहीं देखा था.

''दिदिया, कोन गाम था दिनेश के बाबू का?''बड़ी शाइस्तगी से पूछा मामू ने.

''हाटी गांव. बाबा का नाम उचितलाल.''

कहकर हाथ जोड़कर ऊपर उठा आंखें बंद कर नमन किया हिरनी वाली ने.

''तब तो कोई बात ही नहीं. हम साथ ले चलेंगे दिनेश को.'' आश्वस्त हो मामू ने कमीज की जेब से बीड़ी माचिस निकाल सुलगा ली. घर से जाते वक्त सुरजी बाबू के पैर पकड़कर देर तक रोती रही. लग रहा था कि अब मिल पाएगी या नहीं.

''मैयो, दिनेश की शादी जल्दी करना और हमको बुलाना न भूलना. लाबा भुजाई में हम खोआ चांदी का कंगना लेंगे.''

''काहे नहीं, बड़की तो तुम ही हो.'' हिरनी वाली ने गले लगाकर दो बूंद आंसू टपका दिया.

''देखो, तुम घर में सबसे बड़ी हो, गंभीर रहो.'' रात में चंदन ने दुलहिन से कहा.

''अब कौन छोटी ननद लोग है? अब तो मैया बाबू हैं, उनसे छोटे ही हैं. आपसे भी छोटे हैं.'' हौले से हंसकर कहा और पति को बांहों से घेर लिया. चंदन ने उसके केश, गाल और माथे को प्यार से सहलाया. दोनों एक-दूसरे से चिपट गए. गोहाल की तरफ किसी की पदचाप सुनाई दी. बछड़ा रंभाने लगा, स्वर आर्त्त था. चंदन ने दुलहिन को छोड़ दिया.

''पता नहीं गोहाल में कौनो जनावर घुस आया.'' पांच बैटरी का टॉर्च जलाकर गोहाल की तरफ दौड़ा. दुलहिन अवाक् रह गई. मन, कोमल भाव, शरीर की ऐंद्रिक कामनाएं तिलमिलाकर रह गई. छटपटाकर रह गई दुलहिन. थोड़ी देर में चंदन आया.

''कहीं कुछ नहीं दिखाई पड़ा पर धरती पर पैरों का निशान है. कहीं कोई मेरे बछड़े को चुराने तो नहीं आ गया है? मैं वहीं सोने जा रहा हूं, तुम कोठली बंद कर लो.'' चंदन ने कहा और एक चादर लेकर निकल गया जैसे कुछ हुआ ही न हो. अपनी स्त्री को उसके शरीर को जगाकर यूं चला जाना तकलीफदेह है यह भी न सोचा. वह रोने लगी. पर उसके आंसू पोछने वाला कोई नहीं था. रोते-रोते ही वह नींद के आगोश में चली गई. हौले से दिनेश कमरे में पहुंचा. चंदन ने जिसे शुरू किया था उस कृत्य को उसने पूर्ण किया और चलता बना. दुलहिन सब समझकर भी अनजान बनी इंद्रियसुख प्राप्त करती रही.

बरामदे में खाट पर लेटा सोभन दिनेश से पूछ बैठा—''इतनी देर से कहां गया था तू इतनी रात को?''

''कोई आदमी गोहाल की तरफ था पप्पा जी, उसी के पीछे गया था. दौड़कर भाग गया. फिर देखा कि भैया गोहाल में सोया है तो आ गया.'' सोभन जवाब सुन स्थिर हुआ.

अब दुलहिन तथा दिनेश की खिचड़ी पकने लगी थी.

''अब हम और तुम एक हो गए हैं, शादी-वादी नहीं करेंगे.'' दिनेश ने दुलहिन से कहा.

''बिना शादी किए ऐसे कैसे रहेंगे?'' जवाब मिला

''तुम मेरे साथ भाग चलो. हम लोग जलंधर के गांव में रहेंगे. वहां खूब सुख से रखेंगे तुमको. तुम भी पंजाबी औरतों की तरह सूट पहनना लिपिस्टक लगाना.'' हंसा दिनेश

''धत्.'' शरमा गई दुलहिन.

''दुलहिन गोसांई साहेब कहते हैं लोभ नहीं करना चाहिए, यह संसार माया है, कागज की पुड़िया.'' चंदन ने एक रात कहा.

''माया ही संसार है, काहे नहीं गोसांई साहेब को कहते हैं.'' उसने कहा.

''हम उनकी बात मानते हैं, बतकट्टी काहे करेंगे. तुमको समझा रहे हैं.'' चंदन ने कहा.

''हम नहीं मानते हैं.'' दुलहिन आजकल जिरह करने लगी थी, चंदन ने उसकी बांह पकड़ अपनी ओर खींचा; वह छिटककर दूर चली गई.

''पप्पा जी, सोच रहे हैं कि जलंधर चले जाएं. तीन महीना हो गया. तीन महीना की छुट्टी लेकर आए थे.'' दिनेश ने कहा सोभन से.

''तुम्हारी शादी करना चाहते हैं हम लोग. अभी मत जाओ. अगहनी काटकर लगन कर देंगे.'' सोभन ने आदेश-सा दिया.

''हम आ जाएंगे, कुछ टका कमा लाएं.'' हंसकर जबाव दिया

''वर देखने आएंगे तब' किसको देखेंगे?''

''फोटो दिखा देना पप्पा.''

''अरे, क्या कहता है?'' सब हंसने लगे. उसकी बात मान ली. दूसरे दिन दिनेश जैसे आया था वैसे ही निकल गया. काफी दिन चढ़ जाने पर भी कहीं दुलहिन नजर नहीं आई थी. हिरनी वाली कोना अंतरा झांक चुकी. वह घबड़ा गई. सबसे बड़ी घबराहट चौका बर्तन संभालने की थी. वह खेत के मोड़ पर खड़ी थी कि कहीं घास काटने तो नहीं चली गई कि दो लड़के मोटर साइकिल से आते दिखे. लड़के ने मोटर साइकिल रोक दी.

''काकी, दिनेश भाई और चंदन-भौजी को बस पर चढ़कर शहर जाते देखा है. भौजी की तबियत ठीक है न?'' हिरनी वाली का कलेजा बैठ गया. ये क्या किया दिनेसवा. चुपचाप वहां से आंगन आई. बरामदे पर माथा हाथ देकर बैठ गई. सोभन ने देखा तो पूछा—''माथा पर हाथ देकर काहे बैठी हो?'' कई बार पूछने पर भी हिरनी वाली कुछ न बोली. आंखों से आंसू बहने लगे चुपचाप. सोभन पहली बार इसे ऐसे रोते देख रहा था वरना बेटियों की विदाई के वक्त के बाद कभी रोती नहीं यह. वह खाट पर से उठकर धीमे कदमों से आकर निकट बैठ गया. कंधे पर हाथ धरकर मुस्कुराया. दिनेश चला गया सो घर सूना लगता है. इसीलिए रो रही हो?''

''नहीं.'' आंसू पोछकर बोली. तभी आंगन में दो-तीन उम्रदराज औरतों ने प्रवेश किया

''सोभन भाई, दुलहिन की तबियत

खराब है क्या जो दिनेश के साथ शहर भेजे हो?'' यह गांव की बेटी कलबतिया थी

''चंदन काहे न साथ गया?'' एक वृद्धा भौजाई थी.

''हिरनी वाली दुलहिन साथ चली जाती.'' तीसरी स्त्री थी. सोभन और हिरनी वाली चुपचाप सुनते रहे. वह यूं ही बकती चली गई.

''ये क्या हुआ हिरनी वाली, दिनेश तुमसे पूछकर ले गया है–दुलहिन को?'' पहली बार हिरनी वाली ने सोभन को खुले बरामदे में बांहों से घेर लिया. उसकी छाती में मुंह गड़ाकर हिलक-हिलक कर रोने लगी. गोहाल के कोने में खड़ा चंदन सब देख सुन रहा था. उस पर क्या बीत रही थी, उसने किसी को न बताया. कुछ गड़बड़ तो थी पर दिनेश और दुलहिन इतना बड़ा कदम उठा लेंगे इसकी आशा न थी. वह पलटकर गोहाल की ओर गया. घूरा में आग लगाकर तख्त पर बैठकर सोचने लगा. सांझ ढल गई थी. अंधेरा पसर रहा था. मनस्वी चंदन का कर्तव्यबोध जागा. वह उठा दोनों लालटेनें साफ कर रोशनी कर दी. एक आंगन की ओलती में दूसरा गोहाल में टांग आया. आंगन के बरामदे पर मेया बाबू शोकमग्न बैठे थे. घर में सन्नाटा पसरा था. लालटेन के हिलते डोलते वृत्तों के घेरे में सब कुछ रहस्यमय लग रहा था. उसने देर तक दोनों को देखा; वे उदास पत्थर के बुत लग रहे थे.

''मैयो, रोटी बना दे, भूख लगी है, उठ न.'' चंदन ने कहा. हिरनी वाली लरजकर उठी. चंदन को अंकवार में पहली बार ऐसे भरा जैसे छह माह का घुटरून चलता बच्चा दूध मांगने पास आया हो.

''चल मेरे बाबू, रोटी बनाती हूं.'' चंदन ने चूल्हे में आंच सुलगा दी. छप्पर के बांस में लटकी बाल्टी उतारी, उसमें दूध थाय औंटाने चढ़ा दिया. मैया ने रोटी पकाई. तीनों जने दूध रोटी खाकर तृप्त हुए. जाते जाते मैया बाबू को कहा–''तुम्हारी पतोह हौलदिल है, दिनेश शहर बजार की चकमक

का ब्योरा देता रहता था, उसका मन मचल गया होगा सो चली गई. इतना न सोचो.''

''बाबू, तुममें देव अंश है बेटा और वो छुतहर है.''

मैया ने भरे गले से कहा. पिता को सहारा देकर चंदन ने खाट पर लिटा दिया और पैर सहलाने लगा.

''आया है सो जाएगा, राजा रंक फकीर
सबका अपना करमफल, काहे होत अधीर''

भरे गले से सोभन मंत्र की तरह पढ़ गया. चंदन ने लोटा में पानी भरकर खाट के नीचे रख दिया. मैया चटाई बिछाने लगी तो हाथ से लेकर कोने में खड़ा कर दिया. दूसरी खाट बाबू की खाट के बाजू में बिछा दी.

''मैयो यहीं सोया कर, रात बिरात जरूरत हो तो बुलाना, हम तुरत आ जाएंगे.'' कहकर गोहाल की ओर चला गया. दूसरे दिन से कई बार औरतें-मर्द आकर तरह-तरह की जिज्ञासाएं करते. ये लोग चुप रहते. देखते सुनते एक दिन चंदन ने टोका–

''साहेब का नाम लेते हैं सत्संग करते हैं, काहे बोल वचन से तकलीफ देते हैं लोगों को? सब अपना काम छोड़कर चले आते हैं.'' लोगों ने आना बंद तो कर दिया पर खेत में, धूर पर, कुआं तालाब पर कौन रोक देगा. चंदन अपनी व्यथा किसे कहे? वह अपने आपको काम में झोंककर ही चैन पाता. खेती करना, गाय-भैंस पालना, पिता की सेवा करना रूचता. सोभन ने एक ही जीवन में कई युग देख लिए. नब्बे साल के ऊपर के हो चले. लोग-बाग उनसे पुराने किस्से सुनने आते थे. वे सब भी अब नहीं आते. इनके घर को अछूत की तरह समझने लगे थे. हिरनी वाली ने अपने आप को घरेलू काम में झोंक दिया था. गाय-भैंस के लिए चारा काटकर लाती. गोबर चुनकर गोहाल बुहारती. गोयठा ठोकती और खाना भी बनाती. दोनों मां-बेटा ने पूरा घर संभाल रखा था. हिरणी वाली जो कभी कोई काम नहीं करती उसे काम करते देख औरतें मजाक उड़ातीं. जब ट्यूब वेल पर पानी भरने जाती तो औरतें तमक कर कहतीं– ऊंह–

''बेटी की माए रानी
बुढ़ारी भरे पानी''

हिरनी वाली बिना कोई जबाव दिए पानी भरती रहती. विघ्नसंतोषी औरतों का मन बुझ जाता. ऐसे ही छह माह बीत गए. एक सुबह मुंह अंधेरे दुलहिन सोभन के पांव

के पास खाट की पाटी पर सिर रखकर धीमे धीमे रोती पाई गई. सोभन अर्धचेतनावस्था में आ गए थे. हिरनी वाली भी जग गई. दुलहिन मैले-कुचैले कपड़ों में उजड़ी उपटी सी बेहाल थी.

''अरी ओ कुकर्मी, तुझे हिम्मत कैसे हुई आने की?'' दबी जुबान दांत पीसे हिरनी वाली ने. सोभन ने हाथ उठाकर रोका तथा चंदन को बुला लाने का इशारा किया. चंदन स्वयं गुलगुल सुनकर आ पहुंचा. दुलहिन की दशा देख वह सन्न रह गया. मैया लगातार गाली बके जा रही थी. स्वाभाविक ही तो था.

''मैयो, लौटकर घर आ गई है. बाकी बात बाद में; पहले इसको कपड़ा दो.'' हिरनी वाली ने उसकी ओर स्नेह से देखा उसी की एक साड़ी-ब्लाउज और पेटीकोट पकड़ाया और कहा—''ले जाकर नहा-धो ले. एक बाल्टी पानी ऐंठार पर है. देवता छूआ था सीथ (मांग-सिंदूर के लिए) तुम्हारा.'' वह उठी और कोने में चली गई. हाथ-मुंह धो कपड़े बदल कांपती हुई आई. आकर फिर बैठ गई. बेहद दुबली दुलहिन के चेहरे से लेकर सारे शरीर में फफोले पड़े थे. वह बुखार से तप रही थी.

''बाबू, ये क्या है? माता निकली है क्या?'' हिरनी वाली घबड़ा गई. चंदन ने देखा. हाथ पकड़कर उसे अपनी कोठरी में ले गया. उसे तेज बुखार था. तख्त पर चटाई बिछा लिटा दिया. तुरत गाय का धारोष्ण दूध लाकर मनुहार से पिलाया. दुलहिन को थोड़ी राहत मिली. वह भूखी थी.

''साहेब बनगी सामी जी, छिमा करिए.'' हाथ जोड़कर रोने लगी.

''वह सब छोड़ो, ई दसा कब से है?''

''खुजलाता था महिना दिन से, फोंका तो आज ही देखे हैं.''

''हम अभी डॉक्टर साहब के पास सेंटर पर जाते हैं. तुम पड़ी रहो.'' वह आंगन की ओर आया.

''मैया, माता नहीं निकली है. हम सेंटर पर से दवा लाते हैं. दूध पीकर सो गई है. हम रौनक से मोटरसाइकिल लेकर जाते हैं. डॉक्टर साहब आ सकें तो ले आएंगे.'' वह निकल गया. हिरनी वाली मुंह ताकती रह गई. उसकी कोठरी में झांककर देखा तो वह बेफिक्री से सो रही थी मानो जमाने भर की नींद समाई हो. हिरनी वाली ने चाय बनाकर रोटी के साथ सोभन को खिला पिला दिया. गोहाल जाकर गाय भैंस और बछड़े को नमा (पानी पिला) दिया. चूल्हा जोड़कर भात और साग का झोल बनाकर रख दिया. इस सब काम में एक डेढ़ घंटा लग गया. सोभन कम्पाउंडर को साथ लाया. डॉक्टर साहब ने उसे देखने भेजा था. चंदन ने कम्पाउंडर को सेंटर पर छोड़ दिया. कुछ एंटीबायटिक दवा वगैरह दी गई और मलहम की दो ट्यूब.

''पूरे शरीर में है सर फफोला.'' कम्पाउंडर ने कहा.

''इसीलिए दो ट्यूब मलहम है समझे?'' चंदन की सेवा से सारे घाव सूख गए. दुलहिन होश में आ गई. परंतु कानोंकान पूरे गांव में बात फैल गई कि चंदन बहू को कोई छूत की बीमारी लग गई है. घर में भी वातावरण बेहद बोझिल था. एक दिन चौका में हाथ बंटाने आई दुलहिन तो सास ने झिड़क दिया, कहा कि पहले डॉक्टर से पक्का हो जाए कि तुम ठीक हो तो चूल्हा चौका छुओ. घर आंगन झाड़ो बुहारो, किनारे बैठी रहो. सोभन सूखकर कांटा हो गए थे. अब उनकी अंतिम घड़ी थी. वे पूरी तरह साकांक्ष थे; घर का भारीपन समझ रहे थे. हिरनीवाली का परिश्रम, चंदन का कर्तव्यबोध और दुलहिन का सहमापन सब दिख रहा था. एक दिन हिरनी वाली को पास बैठाकर समझाया—''बहू से पूछो दिनेश ने उसके साथ क्या किया कि इस तरह बीमार हो गई. फिर यहां तक यह अमरूख जनेना पहुंची कैसे?''

''मेरे सामने उस देहजरूआ का नाम न लें. यह औरत भी कम हरजाई नहीं है? काहे अपने सोना जैसा मरद को छोड़कर उस लुच्चा के साथ गई?''

''माफ कर दो, टुग्गर है.'' सोभन ने हाथ जोड़ लिए. हिरनी वाली ने उसके कांपते हाथों को पकड़ लिया.

''काहे पाप चढ़ाते हैं, आप हमारे सिरपुरुष हैं.'' रोने लगी दुलहिन फिर से अपनी पुरानी रंगत पर आ गई थी, स्वस्थ सुंदर. गोहाल का सारा काम करने लगी. गोबर उठाना, सानी-पानी देना, साफ-सफाई, घूरे में चिनगारी लगाना. घास काटने भी जाने लगी. एकाध मनचलों ने शरारत करने की कोशिश की भी पर यह डरी नहीं, हंसिया जो हाथ में था. चौका से दूर थी सो चंदन को खिला-पिला नहीं सकती थी. चंदन इससे एक शब्द भी नहीं बोलता.

उस दिन चंदन बाजार गया था. दुलहिन ने गोहाल में घूरा जलाकर धुआं कर दिया था. फागुन का उतरता जाड़ा सिहरन पैदा कर रहा था. वह बैठकर आग सेंकने लगी. पीछे चौकी पड़ी थी, उस पर सर टेककर सो गई. गहरी नींद में थी दुलहिन कि उसे गोद में भर कर उठाने लगा जैसे कोई. यह छिलमिलाती हुई छिटककर दूर हो गई. अंधेरे में कुछ सूझ न रहा था. पकड़ने वाले ने पुनः उसे अंकवार में भर लिया—''मुझे माफी दे दो दुलहिन, तुमको बहुत सताया, मेरे कारण तुम रनेबने भटकी, इतनी तकलीफ हुई. अब ऐसा न होगा, अपना दिल खोलकर दिखाएं क्या कि कितना पछताए.''

चंदन की बांहों में दुलहिन अवश होती जा रही थी. तख्त पर चटाई बिछी थी जहां हौले से उसे सुलाया और बांहों में भरकर सो गया. आज सारे गिले-शिकवे दूर हो गए, दोनों के आंसुओं की धारा ने सारे कलुष धो दिए. दूर कहीं सत्संग का समापन हो रहा था, खंजड़ी बजाकर समवेत स्वर में गा रहा था गाईन—"सबका अपना करमफल काहे होत अधीर..."

❒

कविताएं

वर्षा की कविता

अकेला नहीं कर सकते तुम मुझे

अकेला नहीं कर सकते तुम मुझे
जानते हो कौन कौन है साथ मेरे
लड़ कर जब हो जाती हूं पस्त
स्पार्टाकस अपने मजबूत कंधे
और भिंचे हुए जबड़ों के साथ
थपथपाने लगता है मेरी पीठ
मेरे सामने ही
पूछा डेविड ने उससे
'हम हार क्यों गए स्पार्टाकस?'
'हम हारे नहीं हैं दोस्त!
'हमारी हार का बदला चुकाने आएगा
संकल्पधर्मी चेतना का रक्त प्लावित स्वर'
तवारीख में जन्मेंगे मुझ जैसे कई
वह मुझे देख मुस्कुराने लगे
एक बिजली सी कौंध गई मेरे ज़हन में
तभी देखा मैंने
स्पार्टाकस कर रहे हैं गुफ़्तगू चार्वाक से
दंग थी मैं देख दो पुरोधाओं को
करते चर्चा 'ईश्वर नास्ति'
मैंने भी झट ले ली ईश्वर से मुक्ति.
बौद्ध भिक्षुणियां साथ थीं
मेरे इस परित्याग में.

जब भी करती हूं वाद-विवाद
और गूंजने लगती है याज्ञवल्क्यों की गरज
'बस्स एक शब्द और नहीं'
धीरे से मेरे बगल मे आ खड़ी होती है गार्गी
कस के थाम लेती है मेरा बाजू
'यूं ही मुस्कुराते रहना मेरी जान
तेरी मुस्कान में ही इनकी हार है'
हंसने लगती हूं मैं बेतहाशा

मीरा ने तो कभी मेरा साथ ही नहीं छोड़ा
मेरे विद्रोहों में वह शामिल रही है हरदम
अपने प्रेम गीतों के साथ.
'कृष्ण' से लौकिक प्यार किया था उसने
राजस्थान की उस धरती पर
राणा के खिलाफ.
जहां औरतों का घूंघट महफूज है आज भी
उनकी 'इज्जत' की तरह
जो मर्दों की कड़क मूछों के कोनों में टंगी हुई है
आज तलक.

तभी मुक्ता बाई, सावित्रीबाई फुले की बांह थामे
चली आईं मुझ तक
बताया उन्होंने मुझे कि कैसे
ब्राह्मण पेशवाओं ने
खेली थी फुटबॉल
दलितों के सिरों से
कि धर्म भला नहीं कर सकता किसी का.
दलितों और औरतों का तो बिल्कुल भी नहीं
गांठ बांध ली मैंने हमेशा के लिए.

जोन आफ आर्क वहीं दूर से ही हिलाकर अपने हाथ
दिलाती हैं दिलासा
नहीं जानती उनके बारे में बहुत
लेकिन कहती हैं वह हरदम
'मर मिटने को हाज़िर रहना सच की ख़ातिर.'
उमड़ उठती हूं भीतर ही भीतर.
जब देखती हूं मैं
जोन पोछ रही हैं सूखी हुई आंखें
कश्मीर की आधी विधवाओं की
कह रही थीं वो
'देखो मुझे, लड़ी थी मैं फ्रांस में
छह सौ साल पहले अंग्रेजों के खिलाफ
लड़ना ही पड़ता है हरदम
हर तरह के आधिपत्य के खिलाफ

चाहे वह शरीर का हो, दिमाग़ का हो
या फिर ज़मीन का.
देनी पड़ती है कुरबानी
बच्चों, शौहर और अपनी भी'.
घेर लिया था तब तक उन्हें
'ब्रूनो की बेटियों' ने
मैं भी धीरे से शामिल हो गई उस जमात में.

तभी पलट कर देखती हूं
बुज़ुर्ग लेनिन खड़े थे
अपनी छोटी दाढ़ी लिए
अपनी गहरी आंखों में
सौ साल के इंकलाब की थाती लिए.
मेरे कलेजे में सिमट आती है
समूची उथल-पुथल और शांति.

मैं चौंक कर आगे देखती हूं
भगत सिंह जेल की तन्हाइयों में बैठे
पढ़ रहे हैं 'राज्य और क्रांति'
फांसी से ठीक पहले.
मिलती है जब मुझसे नज़रें
मुस्कुरा कर सौंप देते हैं
राज्य और क्रांति मुझे
मुड़े हुए सफ़हे समेत
मैं आगे बढ़कर थाम लेती हूं
उनकी विरासत.

राज्य तो बस में नहीं अभी भी मेरे
पर क्रांति मेरे ख़यालों को गढ़ रही है लगातार.
शहीदों की फेहरिस्त लंबी है
वे सभी साथ हैं मेरे
क्या तुम्हें अब भी लगता है
मैं अकेली हूं

❐

संपर्क : 40, विकास कुंज
(फार्चून प्राइड के पीछे)
त्रिलंगा, भोपाल-462039
ईमेल : 2varshashree@gmail.com

मनोज तिवारी की कविता

अश्वत्थामा शापित है

अंदर कुछ सुलझने लगता है
कुछ दरका था
वह जुड़ने लगता है
अपने आप से नजर मिलाने पर
होने वाली ग्लानि कम हो जाती है कुछ
सफेद कागज पर
बिखरे काले हर्फ
तुम्हारे लिए होंगे सिर्फ कविता
मेरे लिए
सांसें हैं जो मुझे
संवेदनाओं के बचे होने का
आभास कराती हैं
भयावह पीड़ा और असह्य दुःख
के इस दौर में जब
बारूदी संस्कृति
विजयोत्सव मना रही है
अट्टहास करती शक्तियां
आस्था और विश्वास पर पैर रख
शिखर की ओर बढ़ रही हैं
हिंसक अश्वत्थामा की
मुट्ठियों में बच्चे कैद हैं
क्या युधिष्ठिर को नहीं पता
कि उसका अर्ध सत्य
कुंठित अश्वत्थामा को ही जन्म देगा
पराजित सी जीत के बाद
मिला सिंहासन
असह्य पीड़ा के साथ
क्या आज सिर्फ
अश्वत्थामा ही शापित है?

❐

संपर्क : ईमेल : hindi.manoj13@gmail.com

कहानी

बुखार

•

प्रियदर्शन

जन्म : 24 जून, 1968
शिक्षा : एम.ए.
कृतियां : उपन्यास 'जिंदगी लाइव', कहानी-संग्रह 'बारिश, धुआं और दोस्त' और 'उसके हिस्से का जादू', कविता-संग्रह, 'यह जो काया की माया है' और 'नष्ट कुछ भी नहीं होता' सहित दस किताबें प्रकाशित. कविता-संग्रह मराठी में और उपन्यास अंग्रेजी में अनूदित.

ईमेल : priyadarshan.parag@gmail.com

वह बाईस मार्च का दिन था. प्रधानमंत्री के आह्वान पर वह अपनी बालकनी पर खड़े होकर एक प्यारी-सी घंटी बजा रहा था. यह घंटी उसने अपनी दुछत्ती पर पड़े पुराने सामानों के बीच से खोजकर निकाली थी. बरसों पहले—यानी करीब 25 बरस पहले—वह जब गया से दिल्ली के लिए चला था तो अपने साथ बहुत सारे जरूरी सामान के अलावा बहुत सारी गैरजरूरी भावुकता भी ले आया था—यह घंटी उसी भावुकता की बची हुई निशानियों में एक थी. दरअसल यह घंटी उसकी दादी बजाती थी—हर सुबह बिना नागा अपने कृष्ण कन्हैया के सामने. अक्सर उसकी नींद इसी घंटी की मधुर ध्वनि से टूटती थी. हालांकि उसकी दादी बहुत कर्मकांडी नहीं थी. पंद्रह मिनट में पूजा निबटाकर दिन के बाकी काम में लग जाती. लेकिन लगता कि घंटी की उस आवाज ने घर की एक लय बना दी है—उसी लय में चूल्हा जलाया जा रहा है, उसी लय में चाय बन रही है, उसी लय में बच्चे स्कूल और पिता दफ्तर जा रहे हैं, उसी लय में मां उसके लिए स्वेटर बुन रही है और उसी लय में फिर शाम और रात हुआ करती थी. दादी नहीं रही तो मां ने भी यह लय टूटने नहीं दी.

यह लय उस दिन टूटी जब पता चला कि उसे इंजीनियरिंग की पढ़ाई के लिए दिल्ली जाना होगा. हालांकि यह अफसोस नहीं, पूरे परिवार और शहर के लिए गौरव का विषय था. यह खबर अखबार में भी छपी थी. वह छोटी-मोटी जगह नहीं आईआईटी दिल्ली आ रहा था. मां याद कर रही थी कि वह बचपन में तरह-तरह की मशीनों से खेला करता था. उनके मुताबिक उसके इंजीनियर बनने के बीज इन्हीं खिलौनों के बीच दिखने लगे थे. पिता का गुमान था कि उन्होंने अपने दफ्तर से लौट कर उसे जिस तन्मयता से गणित और विज्ञान पढ़ाया, उसी का नतीजा है कि बेटा सीधे आईआईटी जा रहा है.

लेकिन जब वाकई जाने की घड़ी आई तो उसके भीतर का कोई पुर्जा हिलने लगा था—कोई ऐसा पुर्जा जिसका विज्ञान से वास्ता नहीं था. वह रो रहा था, मां रो रही थी, पिता भी कहीं सुबक रहे थे, बहन की आंखें भी भरी हुई थीं. मगर सबको मालूम था—यह रुलाई रोकनी होगी. तो वह तैयार हुआ. उसका सामान घर आए ऑटो में चढ़ाया

गया. पिता ने कहा, वे रेलवे स्टेशन तक छोड़ने जाएंगे. तभी मां ने पूजा घर से यह घंटी निकाली—'इसे ले जा.' पिता कुछ कहना चाहते थे, लेकिन किसी हिचक के बीच रुक गए. उसने बिल्कुल कांपते हुए हाथों से वह घंटी सहेजी थी. उसे लगा कि मां ने उसे घर की लय सौंप दी है. इसी से वह बंधा रहेगा. उम्र भर.

लेकिन लय घंटी की नहीं, जिंदगी की होती है—यह उसे दिल्ली ने सिखाया था. आईआईटी हॉस्टल में अपने दोस्तों के साथ रहते हुए उसने पाया कि पुराने कई धागे टूट रहे हैं और जिंदगी बिल्कुल नए तारों पर चलने को मचल रही है. धीरे-धीरे जिंदगी ने नई लय पकड़ ली बल्कि लय से नाता ही तोड़ लिया—यह बिल्कुल दौड़ती, झटके खाती जिंदगी थी जिसमें मोटे होते पैकेज और मोटे होते बीवी-बच्चों का सुख सबसे ऊपर था.

वे बीवी-बच्चे अब भी उसके साथ थे. बीवी के पास घंटी नहीं थी तो वह थाली बजा रही थी. बेटे ने अपना गिटार उठा लिया था. यह मिला-जुला कोलाहल में बदलता संगीत हालांकि किसी पुरानी लय की याद नहीं दिला रहा था, लेकिन पास-पड़ोस से आती थालियों-तालियों की आवाज उनके लिए एक आश्वस्तिदायी सामूहिकता का सृजन कर रही थी. वह खुश था—यह सोच कर रोमांचित था कि पूरा देश किस तरह पांच मिनट के लिए ध्वनियों का समुच्चय हो गया है. पूरे देश में तरह-तरह से गूंज रही हैं घंटियां और थालियां. वह अपने प्रधानमंत्री के प्रति दो और वजहों से कृतज्ञ था—उनके द्वारा घोषित जनता कर्फ्यू की वजह से उसे दफ्तर से एक दिन की छुट्टी मिल गई थी—वरना इतवार को उसकी ड्यूटी रहा करती थी. दूसरी बात यह कि जब उसने घंटी बजाई तो उसके भीतर बचपन की बहुत सारी घंटियां बजने लगीं. उसे अचानक अपनी दादी याद आई, मां याद आई, घर याद आया और यह भी याद आया कि इन वर्षों में वह कितनी तेजी से इन सबको भूलता जा रहा है. थैंक्स प्रधानमंत्री महोदय, उसने मन ही मन कहा और घंटी बजाता रहा.

घर और पास-पड़ोस में देर रात तक इस ताली-थाली-घंटी की गूंज रही. जनता कर्फ्यू की वजह से मिली छुट्टी ने सोशल डिस्टेंसिंग बरतने के प्रधानमंत्री के आह्वान के बावजूद सबको सोसाइटी के गेट पर ला खड़ा किया था और सब याद कर रहे थे कि जब ये मॉल-शॉल नहीं बने थे, जब सबके पास गाड़ियां नहीं थीं और ऐसी नौकरियां भी नहीं कि सबको देर शाम तक रुकना पड़े तो सब कैसे एक-दूसरे के घर जाया करते थे और खूब गपशप किया करते थे.

इस कोरोना से आक्रांत समय में एक-दूसरे के घर जाने का सवाल तो नहीं था, लेकिन सोसाइटी परिसर में माहौल खुशनुमा था. सबको लग रहा था कि प्रधानमंत्री के आह्वान ने देश को एक कर दिया है और सब लोग कोरोना से मिलकर लड़ेंगे. वह सबसे गपशप करके घर लौट आया था. पत्नी किसी से इंटरकॉम पर बात कर रही थी. उसके घर में दाखिल होते ही उसने फोन रखा और कहा, चलो बाजार चलते हैं. वह हैरान हुआ—अभी बाजार क्यों जाना है? क्योंकि राशन लाना है—पत्नी ने उसी लय में कहा. वह और हैरान हुआ, मगर राशन तो कल ही आया है? तब पत्नी ने बताया कि सब लोग राशन ला रहे हैं. सबको डर है कि जनता कर्फ्यू अभी बढ़ेगा—तो कम से कम दो महीने का सारा जरूरी सामान लेकर रख लेना चाहिए. पत्नी के इस सयानेपन का वह कायल हुआ. बेटे से घर पर रहने को कहकर दोनों कार से बिग बाजार पहुंच गए.

बाजार पहुंचकर उसकी सांस फिर रुक गई. इतनी भीड़ तो होली-दिवाली से पहले भी नहीं होती. कहां प्रधानमंत्री ने सोशल डिस्टेंस बरतने को कहा था और कहां सब सामान के लिए गुत्थम-गुत्था हो रहे थे. अभी-अभी जो लोग कोरोना से एक साथ मिलकर लड़ने की बात कर रहे थे, वे फिलहाल सामान के लिए आपस में लड़ रहे थे. कोरोना से निबटने से पहले बच्चों के लिए कुरकुरे और मैगी का इंतजाम कर लेना था. बिग बाजार में बिल्कुल जादुई दृश्य था. लोग जैसे सिर्फ उचकते हुए हाथों में बदल गए थे और इतनी बड़ी दुकान के रैक जैसे खाली होते जा रहे थे. वह भी ऐसे हाथ में बदल गया था और उचक-उचककर सामान गायब करने का खेल दिखा रहा था.

पूरे दो घंटे लगाकर वे कार भर सामान खरीद लाए थे. पहले फ्रिज भरा गया, फिर रसोई के खाने भरे गए और फिर भी सामान बचा रहा तो उसे दीवार से लगाकर रखा गया. इस पूरी कवायद में फिर कम से कम एक घंटा लग गया. वह बुरी तरह थक गया था, लेकिन संतुष्ट था. वे दो महीने का सामान लेने गए थे, कम से कम चार महीने का लेकर लौटे थे. अब जितना भी लंबा चले जनता कर्फ्यू, उसे चिंता नहीं करनी है. रात को खाना खाकर सोते-सोते 12 बज गए. नींद आई लेकिन नींद में भी शॉपिंग का सपना आता रहा. उसने देखा कि नीचे कहीं सामान नहीं है और ऊपर के रैक भरे हुए हैं. लेकिन उसका हाथ वहां पहुंच नहीं पा रहा था. उसने पूरा जोर लगाया और रैक का ऊपरी सिरा पकड़ लिया. लेकिन यह क्या? उसके हाथ के दबाव से पूरी आलमारी झुकी और उस पर गिर पड़ी. उसे अचानक बहुत गर्मी लगने लगी, उसे अपना दम घुटता हुआ महसूस हुआ. और इसी के साथ उसकी नींद टूट गई.

उसका शरीर तप रहा था. यह सपना नहीं था. उसे अगले ही पल समझ में आ गया कि उसे बुखार है. उसने बगल में सोई पत्नी को आवाज देने की कोशिश की, लेकिन पाया कि उसका गला इस तरह बैठा हुआ है कि आवाज नहीं निकल रही है. उसने हाथ बढ़ाकर पत्नी को झिंझोड़ा. पत्नी कुछ अचकचाती-सी उठी. वह कुछ पूछती, उसके पहले उसने बताया कि उसे बुखार है. पत्नी चिंतित हुई. उसका कलेजा धक से कर गया. उसे लगा कि कहीं कोरोना न हो. वह तत्काल हटकर छह फुट दूर हो गई.

फिर अपनी ही हरकत पर शर्मिंदा—तेजी से पास आई और पति का माथा छुआ. यह वाकई तप रहा था. उसने घड़ी देखी-रात के तीन बज रहे थे. झपट कर ड्राइंग रूम में गई और आलमारी में पड़ा थर्मामीटर निकाला. इस पर धूल जमी हुई थी. उसने पाया कि इस खुली आलमारी की हर चीज पर धूल है. उसे फिर अफसोस हुआ कि अपनी भागदौड़ भरी जिंदगी में उसने घर का क्या हाल कर रखा है. लेकिन यह अफसोस करने का समय नहीं था. उसने थर्मामीटर को वैसी ही गंदी झाड़न से रगड़कर साफ किया और बुखार से तप रहे पति के पास पहुंच गई. बुखार 103 डिग्री था—बिल्कुल घबरा देने वाला. गनीमत है कि घर में क्रोसिन 650 था. वह जल्दी से रसोईघर गई, उसने दो गुड्डे बिस्किट निकाले, दराज से क्रोसिन 650 की पत्ती निकाली, पत्ती से एक टैबलेट निकाला, पति को पहले बिस्किट खिलाए और फिर टैबलेट. इसके बाद वह कटोरी में पानी ले आई, साथ में एक साफ कपड़ा भी—और उसने उसके माथे पर पट्टी रखी. आधे घंटे बाद बुखार उतर गया था. पति को जमकर पसीना आ रहा था. उसे अब कुछ ठीक लग रहा था. उसने कहा, चलो अब सो जाते हैं. लेकिन पत्नी के पास सोने से पहले पूछने को सवाल थे. उसने पूछा, सूखी खांसी तो नहीं है या सांस लेने में दिक्कत तो नहीं आ रही? ये दोनों बातें नहीं थीं. उसे एहसास था कि पत्नी बस एक जरूरी तसल्ली के लिए यह सवाल पूछ रही है कि कहीं उसमें कोरोना के लक्षण तो नहीं. उसे कुछ डर भी लगा, कुछ उदासी का अनुभव भी हुआ और कुछ खीज का भी लेकिन उसने पत्नी को बस इतना कहा कि ऐसे कोई लक्षण नहीं है, लेकिन वह चाहे तो एहतियात बरतते हुए बेटे के कमरे में सो जाए.

पत्नी एहतियात बरतना चाहती थी लेकिन उसे एहसास था कि उनके रिश्तों में पहले से आ बैठा अनमनापन उसके अलग सोने से कुछ और गाढ़ा हो जाएगा. फिर यह उसे अमानवीय भी लगा कि वह पति के बीमार पड़ने पर उससे अलग सोए. तो अंततः दोनों एक ही कमरे में सोए.

सुबह बुखार उतरा हुआ था. उसने राहत की सांस ली. यह याद करके उसकी राहत कुछ और बढ़ गई कि अगले दो दिन उसका ऑफ है. यानी अब उसे पच्चीस को ऑफिस जाना है. लेकिन 24 की रात को फिर प्रधानमंत्री का संदेश चला आया—पंद्रह अप्रैल तक सब कुछ बंद. लोग बिल्कुल घरों के भीतर रहें. बालकनी से आगे न जाएं, बस, ट्रेन, विमान—कुछ नहीं चलेंगे. और हां, दुकानों पर भीड़ न लगाएं—क्योंकि सरकार किसी भी जरूरी सामान की किल्लत नहीं होने देगी.

लोगों को अपने प्रधानमंत्री पर बहुत भरोसा था—उनमें उन्हें एक मसीहाई छवि दिखती थी. तीन दिन पहले ही सबने ताली-थाली बजाकर इस भरोसे का राष्ट्रीय प्रदर्शन किया था. मगर उन्हें प्रधानमंत्री की सरकार की योग्यता पर शायद भरोसा नहीं था. इसलिए प्रधानमंत्री की घोषणा के तत्काल बाद फिर दुकानों पर भीड़ उमड़ पड़ी और सोशल डिस्टेंसिंग की जगह धक्का-मुक्की की सोशल यूनिटी दिखने लगी—इस बार उन कम सयानों और ज्यादा घबराए लोगों की, जिन्होंने दो दिन पहले खरीददारी करके सामान भर लेने की समझदारी नहीं दिखाई थी.

लेकिन असली नजारा आने वाले दिनों में दिखाई पड़ा. दिल्ली-गाजियाबाद की सरहद पर जैसे टिड्डियों की तरह मजदूरों का एक विशाल हुजूम उमड़ा हुआ था. अचानक इतने लोग किन बिलों से निकल पड़े? यह कौन-सी भूमिगत सेना है जो लॉकडाउन को नाकाम बनाने पर तुली है? क्या बीती रात दुकानों पर टूट पड़ने वाले लोगों की तरह इसे भी अपने प्रधानमंत्री पर भरोसा नहीं है? सोशल मीडिया और टी.वी. चैनलों पर तरह-तरह की व्याख्याएं चल रही थीं—साजिश से लेकर मजबूरी तक की. लेकिन कोई नहीं बता रहा था कि इनके इस तरह भागने की असली वजह क्या थी. खाते-पीते लोग उन दुकानों की तरफ भाग रहे थे जो बरसों से उनके घरों के भीतर चली आई हैं और गरीब लोग अपने उन घरों की तरफ जिन्हें बरसों पहले छोड़कर वे कुछ खाने-कमाने और घर भेजने की आस में इन शहरों में चले आए थे. वे भाग रहे थे क्योंकि उन्हें मालूम था कि यह शहर उन्हें जीने नहीं देगा. वे भाग रहे थे कि मरना भी हो तो अपनों के बीच हो. और भागते-भागते भी वे मर जा रहे थे—कभी अपनी थकान से और कभी दूसरों की गाड़ी से कुचलकर. जैसे यह कोई दूसरा देश था जो विकास का लॉकडाउन तोड़कर निकल पड़ा था. शहर उन्हें पहले भी सम्मान नहीं देता था, लेकिन अब उसने इन मेहनतकश मजदूरों को बिल्कुल भिखमंगों में बदल डाला था जो दोपहर के खाने के लिए सुबह छह बजे से लाइन में लग जाते थे. इस दौरान उनके छोटे-छोटे बच्चे और औरतें दुकानों के सामने अपनी कारों से उतरते लोगों के आगे दयनीय मुंह बनाए भीख मांगने की कला सीख रहे थे.

हालांकि इतना कुछ उसने न देखा था न सोचा था. शहर के गरीब लोग उसके लिए कोई नया दृश्य नहीं थे. अपनी कार से दफ्तर आते-जाते वह अक्सर इन्हें फ्लाई ओवरों के नीचे और फुटपाथों पर खाते-पीते, और पर्यटन स्थलों और रेडलाइटों पर तरह-तरह का सामान बेचते देखा करता था. उसे आंकड़े की तरह यह बात भी मालूम थी कि दिल्ली की साठ फीसदी आबादी झुग्गी-बस्तियों में रहती है और यह धुंधला एहसास भी था कि उसके घर जो कामवाली बाई आती है, जो ड्राइवर आता है, चौराहे पर जो सब्जी वाला आता है—सब उसी अंधेरी-गंदी दुनिया से आते हैं. लेकिन जब यह दुनिया एक दिन एक साथ सड़क पर आ गई तो वह हैरान रह गया—हे भगवान, यह तो कोई और देश है.

लेकिन वह इन पर देर तक नहीं सोच सकता था. उसके पास चिंता की और भी बड़ी वजहें थीं. उसे फिर से बुखार हो गया था और उतर नहीं रहा था. उसे हर रोज

क्रोसिन की कम से कम एक टैबलेट खानी पड़ रही थी. वह दो अलग-अलग डॉक्टरों से मिल चुका था, सारे जरूरी टेस्ट करा चुका था, लेकिन कुछ निकला नहीं था. डॉक्टर इसे जिद्दी वायरल बता रहे थे. लेकिन उसे यह डर बना हुआ था कि यह कोरोना न हो. डॉक्टरों से उसने पूछा भी, लेकिन सबने यही बताया कि कोरोना के लक्षण नहीं हैं और बिना लक्षणों के कोई जांच नहीं हो सकती. सच है कि इससे उसे कुछ राहत भी मिली थी. आखिर वह भी ऐसी किसी जांच से बचना चाहता था क्योंकि कोरोना का संदेह भी कोरोना की बीमारी से कम खतरनाक नहीं था. पत्नी ने पहले ही बेटे को उससे दूर रखना शुरू कर दिया था जो उसे भी ठीक लग रहा था. खुद पत्नी छुपते-छुपाते उससे दूरी बरत रही थी. लेकिन उसे असली फिक्र पड़ोसियों की थी. अगर उन्हें पता चला कि उसे बुखार है तो उनकी प्रतिक्रिया न जाने क्या हो.

शुक्र है कि पड़ोसियों को यह मालूम नहीं था. फिलहाल वे दूसरी जरूरी बहस में उलझे हुए थे. प्रधानमंत्री के लॉकडाउन के ऐलान और सोशल डिस्टेंसिंग बरतने के सुझाव के तहत क्या-क्या किया जाए? कामवाली बाइयों को, सफाई करने वाले लड़कों को, अखबार बांटने वाले एजेंट को और इस्त्री करने वाले परिवार को सोसाइटी के भीतर आने दिया जाए या नहीं. बहुत सारे लोगों का कहना था—सब पर पूरी रोक लगाई जाए. लेकिन महिलाएं चाहती थीं कि कामवालियों को आने की छूट मिले. उन्हें मालूम था कि उनके न रहने पर उनका काम दुगुना नहीं तिगुना हो जाएगा—खासकर तब जब लॉकडाउन की वजह से पति और बच्चे भी चौबीस घंटे घर पर हों. बल्कि जब सब पर पाबंदी लग गई तो अकेले रह रही एक मैम अपनी कार में बिठाकर अपनी मेड को ले आईं और जब गार्ड ने रोकने की कोशिश की तो उससे बुरी तरह झगड़ पड़ीं. आरडब्ल्यूसी वालों ने भी उनसे दूर रहने में भलाई समझी.

वैसे इसी सोसाइटी में सेन साहब जैसे लोग भी थे जो हर बात पर अलग रुख अख्तियार करते थे. प्रधानमंत्री के थाली-ताली अभियान का भी उन्होंने साथ नहीं दिया था. उनका कहना था—ये कामवालियां, ये ड्राइवर, ये सफाई वाले भी आपकी ही तरह इस देश के नागरिक हैं और लॉकडाउन में घर से न निकलने का निर्देश उन पर भी उतना ही लागू होता है जितना आप पर. उनकी यह भी दलील थी कि जैसे आप चाहते हैं कि आपकी कंपनी आपको घर बैठे पैसा दे वैसे आपको भी इन लोगों को इनके पूरे पैसे देने चाहिए, भले वे एक दिन भी काम न करें. सेन साहब यहीं नहीं रुके, यह भी जोड़ दिया कि यह थाली-ताली बस ड्रामा है, कोरोना से ठीक से निबटने की जगह एक राष्ट्रवादी उफान पैदा करने की कोशिश है जो अंततः नुकसानदेह साबित होगी. हालांकि उनके इस खयाल पर सोसाइटी के कुछ लोग इतना भड़क गए कि लगा कि मारपीट की नौबत न आ जाए. यही नहीं, सेन साहब ने सोसाइटी के कुछ युवा लोगों की मदद से आसपास के सौ मजदूरों को रोज खाने के पैकेट बांटने का इंतजाम किया—जिसमें कुछ खुशी-खुशी पैसे देते थे और कुछ अनिच्छा से. वैसे इस दौरान सफाईकर्मियों के न आने से सोसाइटी की रंगत अजब ढंग से बदल गई. सड़कें गंदी दिखने लगीं, पार्क बेतरतीब और पूरी सोसाइटी धूल से भरी. सबसे बुरा हाल खुले में एक कतार से लगी गाड़ियों का हुआ—कभी उनकी चमक सोसाइटी की भव्यता का भान कराती थी, अब उन पर पड़ी धूल से लगता था जैसे वे बरसों से पड़ी अनाथ गाड़ियां हों जिनके मालिक मर गए हों.

लेकिन वे मरे नहीं थे. वे नए कार्यक्रमों में लगे थे. इस बार प्रधानमंत्री ने एक नया काम दिया था. ठीक रात नौ बजे घर की सारी बत्तियां बुझाकर दीया, मोमबत्ती या मोबाइल का फ्लैश कुछ भी जलाना था. इसे कोरोना के अंधेरे के विरुद्ध राष्ट्र की विजय के संकल्प का प्रतीक होना था. पंद्रह दिन के भीतर दूसरी बार प्रधानमंत्री ने राष्ट्र को एक विचार-सूत्र में गूंथने का अभिनव मंत्र दिया था. पिछली बार जो ज्योतिषी और वैज्ञानिक कालगणना के अनुसार ग्रहों की गति और ध्वनि-तरंगों के विज्ञान का हवाला देते हुए ताली-थाली को कोरोना वायरस के विरुद्ध प्रधानमंत्री का मास्टरस्ट्रोक बता रहे थे, इस बार वही दीये से निकलने वाले समवेत प्रकाश में कोरोना के समूल नाश की संभावना देख रहे थे. हालांकि सरकार ने साफ कर दिया था कि प्रधानमंत्री के इस महान प्रयास को किसी अंधविश्वास की रोशनी में न देखा जाए. मगर सोशल मीडिया पर, तमाम पारिवारिक-सामाजिक वाट्सऐप समूहों में आइटी सेल के तैयार किए गए ऐसे वीडियो घूमने लगे थे जिनसे पता चलता था कि प्रधानमंत्री द्वारा आहूत अभियान वैज्ञानिक रूप से कितना महत्त्वपूर्ण है और ज्योतिषीय कालगणना के हिसाब से कितना सटीक.

बेशक, कुछ सिरफिरे थे जो राष्ट्र के इस महान अभियान में शामिल होने को तैयार नहीं थे. पिछली बार थाली-ताली का उन्होंने जमकर मजाक उड़ाया था और इस बार पड़ोसियों के आग्रह के बावजूद बिजली बुझाने और दीया जलाने को तैयार नहीं हुए थे. अंधेरे में डूबी और दीयों से टिमटिमाती सोसाइटी के भीतर बिजली से चमकता उनका घर प्रधानमंत्री में निष्ठा रखने वालों को बिल्कुल कोरोना का प्रतीक लग रहा था. उनकी देखा-देखी कुछ और घर थे जिन्होंने बत्ती बुझाने से इनकार कर दिया था. इन सारे घरों की सूची बना ली गई थी और उन्हें किसी सही समय पर सबक सिखाने का सबका इरादा पक्का था.

लेकिन इन घरों की सूची में उसका घर नहीं था. उसने बत्ती भी बुझाई और दीये भी जलाए—हालांकि तब भी वह 102 डिग्री बुखार में था. सावधानी बरतते हुए वह कमरे से निकला नहीं था. पत्नी ने बाहर दो दीए जला दिए थे, जबकि बेटा मोबाइल का फ्लैश चमका रहा था. इन सबके बीच हर तरफ आतिशबाजी की आवाज आ रही थी.

वाकई प्रधानमंत्री की एक अपील पर देश ने छोटी-मोटी दिवाली मना डाली थी. उनकी आवाज में जादू है.

लेकिन यह जादू उसे बहुत राहत नहीं दे पा रहा था. उल्टे धीरे-धीरे उसके भीतर डर पैदा हो रहा था—अगर उसे कोरोना हो गया तो? लेकिन यह बीमारी का डर नहीं था. घर पर रहते हुए उसने इतनी रिसर्च तो कर ली थी कि कोरोना के अस्सी फीसदी मरीज खुद ठीक हो जाते हैं. वह अपने आसपास, पास-पड़ोस और समाज से डरा हुआ था. वह देख रहा था कि कोरोना के बीमारों को लोग बीमार की तरह नहीं, दुश्मन की तरह देख रहे हैं. तबलीगी जमात अपनी अहंकारी मूर्खता में देश के कई हिस्सों में कोरोना फैलाने की जिम्मेदार बन गई थी. शहरों-कस्बों और गांवों की मस्जिदों में ऐसे लोग निकल रहे थे जो दिल्ली के निजामुद्दीन में तबलीगी जमात के मरकज से लौटे थे और कोरोना की चपेट में आ रहे थे. उनके संपर्क में आए तमाम लोगों को 'क्वॉरन्टीन' किया जा रहा था. देश भर में इन बीमार वायरस-वाहकों को कोसा जा रहा था. यहां तक कहा जा रहा था कि यह देश में कोरोना फैलाने की मुसलमानों की साजिश है. जैसे कोरोना के वायरस से कहीं ज्यादा यह नफरत का वायरस था जो उससे भी तेजी से लोगों पर हमला कर रहा था.

क्या यह नफरत सिर्फ सांप्रदायिक थी? वह पा रहा था कि कोई और भी चीज है जो लोगों में यह उन्माद पैदा कर रही है. जिन डॉक्टरों के लिए कभी प्रधानमंत्री के कहने पर ताली-थाली बजाई गई, उनको लोग घरों से निकाल रहे थे, क्योंकि वे कोरोना के मरीजों के संपर्क में आते हैं. जिनके बारे में कोरोना होने का संदेह भर हुआ, उनका सामाजिक बहिष्कार हो जा रहा था. और तो और, लोग मृतकों का अपने-अपने कब्रिस्तानों और श्मशान घाटों पर अंतिम संस्कार तक नहीं करने दे रहे. उसने मोबाइल पर वीडियो देखा था कि कहीं-कहीं तो बेटे बाप के शव को इस डर से हाथ नहीं लगा रहे कि उन्हें

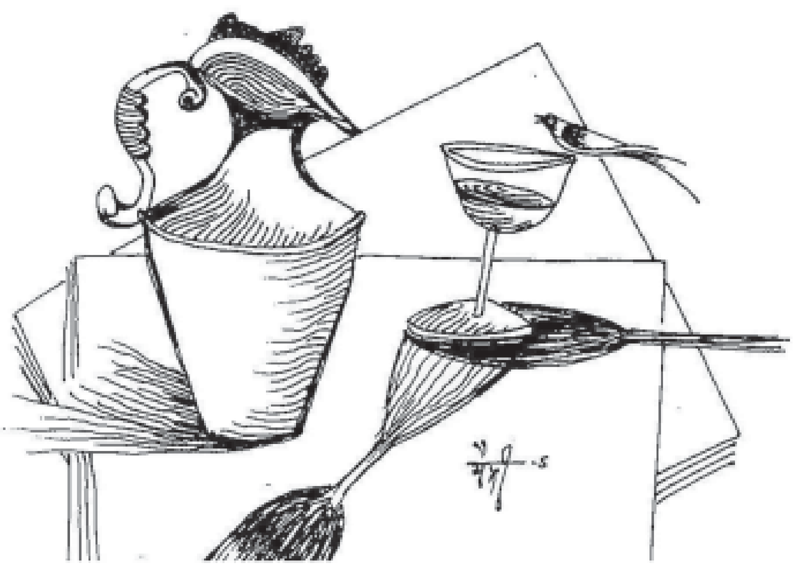

कोरोना न हो जाए. वह देख रहा था कि लोग समाज के डर से अपनी बीमारी छुपा रहे हैं और बाद में समाज सवाल कर रहा है कि ये कैसे लोग हैं जो छुप-छुपकर कोरोना फैला रहे हैं? हालांकि इसी समाज में ऐसे ताकतवर लोग भी थे—नेता, अफसर और दूसरे रसूखदार—जो अपनी ताकत के गुमान में सारे नियम तोड़ते हुए दूसरों को खतरे में डाल रहे थे और उनके खिलाफ कोई केस नहीं हो रहा था.

यह कैसा समाज हम बना रहे हैं? ऐसे सवालों पर उसने कभी सोचा नहीं था. बल्कि इस तरह के सवाल करने वाले अपने बचपन के पत्रकार दोस्त अमिताभ का बाकी सब दोस्त मजाक बनाया करते थे. उसे खयाल आया कि वह अमिताभ को फोन करे, लेकिन इस बीमारी में उसका मन नहीं हुआ. कहीं उसके भीतर एक चोर—डर यह बैठा हुआ था कि वह अपनी सोसाइटी के लोगों से अपनी बीमारी छुपाकर कोई अपराध तो नहीं कर रहा?

लेकिन अपराध क्यों? उसे बस वायरल बुखार है. यह एक नहीं, तीन-तीन डॉक्टरों ने मार्च के शुरू में ही बताया था. उसके भीतर कोरोना के कोई लक्षण नहीं हैं. हालांकि यह चिंता की बात है कि बुखार उतर क्यों नहीं रहा है. अब तो डॉक्टर भी मिलने से कतरा रहे हैं. उन्होंने अपने क्लीनिक बंद कर रखे हैं. उनका कहना है, वे तो अपना बचाव कर लेंगे, लेकिन उनके क्लीनिक में आए दूसरे लोगों को किसी मरीज से संक्रमण हो गया तो? दलील उनकी ठीक थी, लेकिन उसके मन का कोई कोना कहता था कि डॉक्टर इस दलील की आड़ में अपनी जिम्मेदारी से भाग रहे हैं.

लेकिन वह कौन होता है दूसरों की जिम्मेदारी तय करने वाला? वैसे भी इस बुखार में वह कुछ और सोचने की हालत में नहीं था. दो दिन से उसका बुखार भी बढ़ रहा था और उसकी बेबसी भी. वह समझ नहीं पा रहा था कि कहां जाए, किसे दिखाए. पास के जो अस्पताल अब तक काम आते रहे थे वहां ओपीडी बंद थी और इमरजेंसी वाले डॉक्टरों का कोई ठिकाना नहीं था. दूर के और बड़े अस्पतालों की व्यवस्था तक उसकी पहुंच नहीं थी. वैसे भी महीने भर के बुखार ने उसमें इतनी हिम्मत नहीं छोड़ी थी कि वह खुद ड्राइव करके जा सके. 16 साल का बेटा कई बार जिद करता था कि वह कार चलाएगा, लेकिन उसी ने उसे सख्ती से रोक रखा था.

वह अक्सर सोचा करता कि यह कोरोना से कैसी लड़ाई है जिसमें बाकी बीमारियों और मरीजों को मरने के लिए छोड़ दिया

जाए. लेकिन इससे आगे वह सोच नहीं पाता था. उसे मालूम था, कोरोना से लड़ना अभी जरूरी है.

उसे लग रहा था कि किसी की मदद लेना जरूरी है. सोसाइटी में वह आठ साल से रह रहा है. इस 14 मंजिला इमारत के आठ ब्लॉक हैं. लगभग हर ब्लॉक में उसके कई परिचित हैं. कई लोग सुबह छह बजे उसके साथ टहलते भी हैं. इधर सोसाइटी ने टहलने पर रोक लगा रखी है वरना कोई न कोई हाल पूछने आ जाता.

लेकिन अभी वह क्या करे? किसे अपना हाल बताए? उसने पत्नी से राय ली. पत्नी की भी यही सलाह थी कि सोसाइटी में बुखार की बात न खुले तो बेहतर. उसने याद दिलाया कि इससे अच्छा अमिताभ जी को बुलाना होगा—वे पत्रकार हैं, लॉकडाउन के बाद भी आ सकते हैं और उसे कहीं दिखाने भी ले जा सकते हैं. उसे यह बात जमी. उसने तुरंत अमिताभ को फोन किया. अमिताभ उसका हाल सुनकर चिंतित हुआ. उसने नाराजगी भी जताई कि पहले क्यों नहीं बताया. फिर उसने कहा कि वह एक सीनियर डॉक्टर से बात कर लेगा. यह शुक्रवार का दिन था और अमिताभ ने कहा कि शनिवार छुट्टी रहती है—वे दोनों कार से चल पड़ेंगे. उसे बड़ी राहत मिली. इस दुनिया में ऐसे दोस्त हैं जो इस लॉकडाउन में भी उसके लिए कहीं भी जाने को तैयार हैं.

अगली सुबह फिर अमिताभ का फोन आया. डॉक्टर ने दोपहर 12 बजे का समय दिया है इसलिए वे सवा ग्यारह तक निकल लेंगे. अमिताभ ने कहा कि वह अपनी गाड़ी ले आएगा. नियत समय पर अमिताभ पहुंच गया. वह बड़ी मुश्किल से पत्नी की मदद से तैयार हो पाया. उसे ठीक से पहली बार समझ में आ रहा था कि हाल के हाई फीवर ने उसके जिस्म से कैसी कीमत वसूल की है.

लेकिन इस बुखार की असली कीमत अभी चुकाई जानी बाकी थी. वह और अमिताभ मास्क लगाकर निकले. लिफ्ट के पास खड़े थे कि बगल के फ्लैट वाले रस्तोगी जी भी एक मास्क लगाए और एक झोला लिए आ खड़े हुए. मास्क के भीतर-भीतर से ही औपचारिक मुस्कुराहटों का आदान-प्रदान हुआ. लेकिन जब लिफ्ट खुली और रस्तोगी जी के पीछे-पीछे वह अमिताभ के साथ धीमे-धीमे दाखिल हुआ तो रस्तोगी जी चौंक गए—'तबीयत ठीक नहीं है क्या?'

उसने सिर हिलाया—'हां, दो-तीन दिन से वायरल फीवर है.' रस्तोगी जी अनायास उस तंग लिफ्ट में भी सोशल डिस्टेंसिंग के लिए जैसे व्याकुल हो उठे. वे बिल्कुल लिफ्ट की दीवार से चिपक गए.

छठे फ्लोर से लिफ्ट को नीचे आने में जो 30 सेकंड लगने थे, वही उनको आफत लगने लगे.

उनको लग रहा था कि उनके सामने एक कोरोना बम है जो फटेगा और उनके मुंह और नाक के सहारे उनके भीतर समाकर उनको भी बीमार बना डालेगा. ऐसे समय बस इतनी भर तसल्ली थी कि उन्होंने एन-95 मास्क लगा रखा है जो स्वास्थ्यकर्मियों के लिए ही बताया जाता है. अच्छा हुआ जो उन्होंने प्रधानमंत्री की यह सलाह नहीं मानी कि आम लोग घर के बने मास्क का इस्तेमाल कर सकते हैं. उनकी पत्नी ने अपने पुराने कपड़ों से चार मास्क तैयार भी कर दिए थे, लेकिन उन्होंने फटकार लगाई कि यह अनपढ़ों वाला काम न करे. वे मास्क उन्होंने सोसाइटी के गार्ड्स को दे दिए.

कहां वे बाहर दुकान और सब्जीवालों से बचने में लगे थे और कहां पड़ोस में ही कोरोना छुपा निकल आया. लिफ्ट से बाहर आते ही उन्होंने मास्क के भीतर से ही जोर की सांस ली. फिर उनसे रहा नहीं गया. उन्होंने कह ही दिया—'बुखार में आपको लिफ्ट का इस्तेमाल नहीं करना चाहिए.'

उसने कहना चाहा, यह कोरोना नहीं, बस वायरल है. लेकिन वे सुनने के लिए रुके तक नहीं. जैसे कुछ और सेकंड इस आदमी के संपर्क में रह गए तो उन्हें भी संक्रमण हो जाएगा.

वह भीतर से कुछ कातर और उदास हो गया. रस्तोगी जी भी छह साल से पड़ोस में रह रहे हैं.

लेकिन उन्होंने करीने से हालचाल तक नहीं पूछा, बस एक टिप्पणी जड़कर चले गए.

अमिताभ ने उसकी उदासी पकड़ ली. कहा, 'अरे छोड़ो, जाने दो उसको.' फिर उसे खयाल आया कि वह अपने पसंदीदा विषय पर यहां भाषण झाड़ सकता है. तो वह शुरू हो गया—'दरअसल कसूर उसका नहीं है, उस समाज का है जो हमने बनाया है. यह एक बीमार पूंजीवादी समाज है, जो सिर्फ अपनी चिंता करता है. वह पैसे के दम पर खरीदे गए रेडिमेड सुखों-दुखों पर पलता है, कहीं और से मिले सपनों और उम्मीदों को अपना मानता है. कभी इस क्लास को मल्टीप्लेक्स में देखना. वह किसी इमोशनल सीन पर आंसू भी बहाता रहेगा और साथ में पॉपकॉर्न भी खाता रहेगा. अभी ये डरने के दिन हैं इसलिए वह डर रहा है.'

लेकिन वह इस बुखार में इतना लंबा भाषण सुनने के मूड में नहीं था. उसने झल्लाते हुए अमिताभ को कहा कि वह चुप रहे. अमिताभ हंसने लगा, 'साले, तुम भी इसी क्लास के हो इसलिए. रस्तोगी ने तो तुम्हें टोका भर, तुम होते तो अब तक उसे सोसाइटी से बाहर कर चुके होते.'

क्या वाकई? वह वास्तव में सोचने लगा कि क्या वह भी ऐसा ही करता? उसे याद आया कि जब बी ब्लॉक के सुरेश तोमर की नौकरी छूट गई थी और वह कई महीनों का मेंटेननेस चार्ज नहीं दे पाया था तो जो लोग उसकी बिजली काटने के पक्ष में थे, उनमें वह भी था. तब कई लोगों ने यह सुझाव भी दिया था कि सुरेश को लिफ्ट का इस्तेमाल न करने दिया जाए. हालांकि इस पर अमल इसलिए नहीं हो पाया कि सुरेश ने कहीं से पैसे लाकर जमा कर दिए थे. महीनों बाद उड़ती-उड़ती यह खबर उसकी पत्नी तक पहुंची थी कि सुरेश की पत्नी ने इसके लिए अपनी चूड़ियां बेच दी थीं—सिर्फ

मेंटेनेंस नहीं देना था, बच्चों की फीस भी देनी थी और बैंक की ईएमआई भी.

खैर, डॉक्टर से मिलकर उसे राहत मिली थी. इस डॉक्टर ने भी यही कहा कि ये कोरोना नहीं है, एक जिद्दी वायरल है जो जाते-जाते जाएगा. उसने दो दवाएं भी लिखी थीं. उसने तय किया था कि लौटकर वह सोसाइटी में सबको बता देगा कि उसे बुखार है, मगर कोरोना नहीं है और उससे किसी को डरने की जरूरत नहीं है.

लेकिन इसकी जरूरत नहीं पड़ी. उसके पहले रस्तोगी जी सबको बता चुके थे कि वह बीमार है और यह बीमारी सबसे छुपा रहा है. सोसाइटी के वाट्सऐप ग्रुप में यह सूचना तरह-तरह की शिकायतों और सवालों के साथ घूम रही थी. सबको यही लग रहा था कि उसने पूरी सोसाइटी—और खासकर अपने ब्लॉक के लोगों को खतरे में डाल दिया है. कई दिन से बुखार में होने के बावजूद उसने सोसाइटी की प्रबंध समिति को कोई सूचना नहीं दी, बल्कि इस दौरान वह और उसका परिवार धड़ल्ले से लिफ्ट इस्तेमाल करते रहे. जबकि ऐसे संगीन समय में सबको खुद क्वॉरन्टीन हो जाना चाहिए था.

वह हैरान था. लोग कितनी तेजी से किसी नतीजे तक पहुंच जाते हैं! वह जैसे उनके बीच का नहीं, किसी तबलीगी जमात का सदस्य हो जिसने जान-बूझकर सबके खिलाफ बीमारी फैलाने की साजिश की हो. वह डर गया कि कहीं कोई ऐसा वीडियो न निकल जाए जिसमें वह कहीं या किसी पर थूकता दिख रहा हो. हालांकि उसे मालूम था कि ऐसा नहीं होगा—वह उनके बीच का ही है. मगर इसी से उसे यह भी खयाल आया कि एक बड़े परिवार या समाज के हिस्से के तौर पर तबलीगी पराये क्यों थे?

वह इस पर कुछ सोच पाता, इसके पहले इंटरकॉम बजने लगा था. पत्नी ने उठाया, हां हूं की और मुड़कर उससे कहा, अवस्थी जी का फोन है. अवस्थी जी सोसाइटी के अध्यक्ष थे. बात-बात पर हेहेहे करने वाले विनम्र आदमी थे. उन्होंने बहुत धीरज से उसका हालचाल लिया. बुखार की बाबत पूछा. यह भी कहा कि पहले बताते तो वे किसी बड़े डॉक्टर के पास ले चलते. उलाहना दिया कि सोसाइटी के लोग ऐसे मौकों पर एक-दूसरे के काम नहीं आएंगे तो कब आएंगे. यह भरोसा भी दिलाया कि सब उसके साथ हैं, वह फिक्र न करे. वह वाकई फिक्र नहीं करना चाहता था. डॉक्टर से मिलने के बाद उसकी बची-खुची फिक्र भी खत्म हो जाती. लेकिन सोसाइटी के वाट्सऐप ग्रुप पर जो कुछ चल रहा था, उसने उसे बुरी तरह परेशान कर दिया था. ऐसे में प्रेसिडेंट साहब की बात उसे बड़ी तसल्ली भरी लग रही थी.

लेकिन यह तसल्ली देर तक नहीं टिकी रही. अवस्थी जी कुछ हिचकते हुए अपने असल मुद्दे पर आ रहे थे. सोसाइटी बहुत चिंतित है कि उसके यहां एक आदमी को बुखार है और इसे उसने सबसे छुपाया हुआ है. अवस्थी जी याद दिला रहे थे कि इतने बड़े अपराध पर तो देश भर में तबलीगियों को खोज-खोजकर जेल में डाला जा रहा है. लेकिन वे लोग पुलिस नहीं बुलाने जा रहे हैं. सोसाइटी बस कुछ एहतियाती कदम उठाने जा रही है. उसके ब्लॉक की लिफ्ट को सैनेटाइज कराया जा रहा है. इस बीच उससे अनुरोध है कि वह परिवार सहित खुद को क्वॉरन्टीन रखे. जरूरत पड़ने पर सीढ़ियों का इस्तेमाल कर ले, लेकिन लिफ्ट से न आए-जाए.

वह बुरी तरह भड़क गया था. उसने कहा कि उसे कोरोना नहीं है, मामूली वायरल है और यह बात तीन नहीं, चार डॉक्टर कह चुके है. सोसाइटी चाहे तो उनके पर्चे देख ले. और हां, उसने कुछ छुपाया नहीं है. सोसाइटी में हर किसी को फोन करके बताने का कोई मतलब नहीं है कि उसे वायरल हुआ है. उसने गुस्से में यह भी कहा कि जो सोसाइटी अपने सदस्य के साथ खड़ी नहीं हो सकती, वह प्रधानमंत्री के संकल्प के मुताबिक कोरोना से साझा लड़ाई क्या करेगी? और सोसाइटी के जिन लोगों को आज उससे डर लग रहा है, वही लॉकडाउन से पहले सारे नियम तोड़कर दुकानों में धक्का-मुक्की कर रहे थे.

अवस्थी जी अपने स्वभाव के मुताबिक पूरे धीरज से उसकी बात सुनते रहे. उन्होंने यह भी माना कि वह बिल्कुल ठीक कह रहा है, कि समाज में जागरूकता की बहुत कमी है, कि लोग अपने स्वार्थ में अंधे हुए जा रहे हैं और इसीलिए कभी जगतगुरु कहलाने वाला भारत आगे नहीं बढ़ पा रहा है, प्रधानमंत्री की कल्पना वाला एकजुट राष्ट्र नहीं बन पा रहा है. उन्होंने फिर तबलीगियों का उदाहरण दिया जो कोरोना फैलाते घूम रहे हैं. बताया कि कैसे इंदौर में डॉक्टरों पर पत्थर फेंके जा रहे हैं.

लेकिन फिर वे मुद्दे पर चले आए. कहा कि सोसाइटी के लोगों की चिंता भी अपनी जगह सही है. यहां बहुत सारे बच्चे हैं, बहुत सारे बुजुर्ग भी. सबका खयाल रखना पड़ेगा. और जहां तक कोरोना का सवाल है,अब तो डॉक्टर भी बोल रहे हैं कि कोरोना के ज्यादातर मरीज ऐसे हैं जिनमें लक्षण नहीं दिखते. तो यह कैसे कहा जा सकता है, उसे कोरोना नहीं हो सकता. तो अच्छा यही है कि वह सोसाइटी के साथ सहयोग करे, 14 दिन घर से न निकले. उन्होंने फिर भरोसा दिलाया कि वह सोसाइटी से सहयोग करेगा तो सोसाइटी भी उससे सहयोग करेगी.

इसके बाद ज्यादा कुछ कहने-सुनने की गुंजाइश नहीं बची थी. उसने पत्नी को अवस्थी जी से हुई बातचीत के बारे में विस्तार से बताया. फिर वह चिंतित हो गया—बेटा कहां है? पत्नी ने बताया, वह दोस्तों के साथ नीचे गपशप कर रहा होगा. लेकिन यह बातचीत चल ही रही थी कि घंटी बजी. पत्नी ने दरवाजा खोला तो बेटा खड़ा था—कुछ परेशान सा और कुछ पसीना-पसीना. उसने बताया कि हर जगह पापा की बीमारी की बात चल रही है. उसका अपने दोस्तों से झगड़ा भी हो गया.

वे याद दिला रहे थे कि बॉलिंग करते समय वह गेंद पर थूक लगा रहा था. बाद में नीचे वाले अंकल ने उसे घर जाने को कहा, लेकिन लिफ्ट से नहीं, सीढ़ियों से. तो वह सीढ़ियों से चलकर आया है.

वह स्तब्ध था. तो बात यहां तक चली आई. थूक का सवाल भी चला आया. वह भीतर से बिखर सा रहा था. लेकिन यह वक्त परिवार को संभालने का था–उसका सोलह साल का बेटा रो रहा था. उसने उसे चुप कराया, कहा कि सब ठीक हो जाएगा. बस दो हफ्ते की बात है. वैसे भी उसका बुखार आज उतरा हुआ है. अब शायद न आए. उसके बाद वह इन लोगों का बुखार उतारेगा.

लेकिन कैसे उतारेगा? वह भी तो इन्हीं लोगों के बीच का रहा है. किसी और को बुखार आया होता तो वह परिवार रो रहा होता और वही उनके बच्चे को लिफ्ट से न जाने की हिदायत दे रहा होता. वह भीतर से शर्मिंदा हो गया.

उसे मालूम था, उसका बुखार उतर जाएगा. लिफ्ट उसके लिए फिर से खुल जाएगी. लेकिन पूरे समाज में जो एक अदृश्य बुखार पसरा हुआ है, यह कैसे उतरेगा? कोरोना की तरह इसके लक्षण भी किसी को नजर नहीं आ रहे. तरह-तरह के अंदेशों और शक-शुबहों से भरी और एक-दूसरे को शिकायत, हिकारत और नफरत से देखती यह दुनिया कैसे बदलेगी? प्रधानमंत्री की तरह-तरह की अपीलों का क्या मतलब है? यह जो ताली-थाली बजी, यह जो दीए जलाए गए–उनका मकसद क्या एकजुटता पैदा करना और रोशनी फैलाना है? लेकिन उसके पहले का अंधेरा किसने पैदा किया है? या यह जान-बूझकर एक अंधेरे को छुपाने की कोशिश है? जो गरीब, बेगार मजदूर हैं, क्या वे इस देश के नागरिक नहीं हैं? क्या तबलीगी जमात के नाम पर एक पूरी कौम को बदनाम करना ठीक है? यह तो कहीं ज्यादा बड़ा वायरस है, इससे कैसे लड़ेंगे?

इन सवालों के जवाब उसके पास नहीं थे. सच तो यह है कि ये सवाल पहले उसके दिमाग में आते भी नहीं थे. जब खुद पर गुजरी, तब सच खुला. उसने तय किया कि वह अब ऐसी किसी कोशिश में शरीक नहीं होगा. उसे अपना घर याद आया, मां याद आई, दादी की घंटी याद आई–और यह याद आया कि प्रधानमंत्री के आह्वान पर उसने यह घंटी बजाई थी. आज यह घंटी फिर निकालनी होगी–इस बार किसी के कहने पर नहीं, बस अपने भीतर की आवाज से. यह उसका निजी प्रतिरोध होगा–अपनी सोसाइटी के रवैये से.

लेकिन इसके पहले कुछ और भी करना होगा. उसने सोसाइटी के वाट्सऐप ग्रुप पर एक लंबा मेसेज लिखा. हालांकि लिखते-लिखते ही वह थकने लगा. उसे लगा कि मेसेज फारवर्ड करना कितना आसान है और लिखना कितना मुश्किल. लिखने के पहले सोचना पड़ता है. फिर भी उसने लिख ही लिया–'साथियो, छह साल से आपके बीच रह रहा हूं. हर सुख-दुख में साथ रहा. कभी किसी को शिकायत का मौका नहीं दिया. सारे बिल समय पर जमा करता रहा. लेकिन अभी अचानक मुझे सबने दुश्मन मान लिया है. बस इसलिए कि मुझे बुखार है. यह बस वायरल है, लेकिन आप सब कोरोना निकाल लाए. आपने हम लोगों का निकलना बंद कर दिया. यह कैसी सोसाइटी है–यह कैसा समाज है? अगर हमारे बीच किसी को वाकई कोरोना हो गया तो उसे तो आप लोग फांसी पर चढ़ा देंगे. कोरोना से आपकी लड़ाई झूठी है. आपने जो ताली-थाली बजाई वह झूठी है. उस दिन आपके साथ मैं भी शामिल था लेकिन थोड़ी ही देर में मैं अलग से घंटी बजाने जा रहा हूं–याद दिलाने के लिए कि कोरोना से लड़ना है तो सबको सच में साथ आना होगा, साथ होने का दिखावा करने से काम नहीं चलेगा. हम पहले से बीमार लोग हैं. यह बीमारी दूर करनी है.'

वह जल्दी से अपने कमरे में गया. दुछत्ती में फिर से रख दी गई घंटी निकाली. पत्नी और बेटा उसे कुछ हैरत से देख रहे थे. वह बालकनी में पहुंचा. उसने जोर-जोर से घंटी बजानी शुरू की. लॉकडाउन के सन्नाटे में वह घंटी पूरी सोसाइटी में जैसे एक चेतावनी की तरह गूंज रही थी. अगल-बगल के लोग बालकनी में चले आए थे और उसे देख रहे थे. इस बीच उसकी पत्नी और बेटा बालकनी में आकर उससे भीतर आने की मनुहार कर रहे थे. सब उसकी घंटी सुन रहे थे, किसी ने देखा नहीं कि वह रो रहा था–फूट-फूटकर. परिवार उसे संभालने में लगा था.

लेकिन तभी एक दूसरे ब्लॉक से भी एक घंटी बजने की आवाज सुनाई पड़ने लगी. उसने हैरानी से देखा–जो सेन साहब न ताली-थाली में शामिल हुए न दीया जलाने में, वे घंटी बजा रहे हैं. दोनों की नजर मिली तो उन्होंने हाथ उठाकर अभिवादन किया–जैसे भरोसा दिला रहे हों कि वह अकेला नहीं है. फिर अचानक तीन-चार और घरों से ताली और बर्तन की आवाज सुनाई पड़ने लगी थी. यह सब पांच मिनट में हुआ और खत्म भी हो गया.

पत्नी-बेटे के साथ अब वह कमरे में आ गया था. घंटी उसने मेज पर रख दी. देर तक अपने भीतर डूबा रहा. उसे अब एक अजब सी शांति महसूस हो रही थी. उसका बुखार उतर चुका था–वह बुखार भी जिसकी उसे खबर नहीं थी लेकिन जो अब पकड़ में आया था.

मगर उस रात सोसाइटी में बहुत सारे लोगों की नींद में वह घंटी बजती रही. सब बेचैन रहे–परेशान कि उसकी घंटी का मतलब क्या था. कहना मुश्किल है, उसमें कितने लोग अपना बुखार पकड़ पाए. जबकि वह चैन से सोता रहा–आश्वस्त कि वह अकेला नहीं है और बीमार भी नहीं है.

❒

तत्त्वाभिनिवेशी आलोचक नंदकिशोर नवल

योगेश प्रताप शेखर

आलोचना

कहते हैं कि एक बार संस्कृत के प्रोफेसर पद के लिए इंटरव्यू हो रहा था. उम्मीदवार से यह पूछा गया कि आपने क्या-क्या पढ़ा है? उम्मीदवार ने उत्तर दिया कि 'मम्मटाचार्य रचित काव्य प्रकाशः'. विशेषज्ञों ने किंचित् आश्चर्य से कहा कि "रामायण नहीं पढ़ा, महाभारत नहीं पढ़ा, वेद नहीं पढ़े, कालिदास और दूसरे कवियों का साहित्य नहीं पढ़ा, और दूसरे आचार्यों के रचित ग्रंथ नहीं पढ़े?" उम्मीदवार ने फिर जवाब दिया कि "पढ़ा है, यह सब भी पढ़ा है पर इन्हें काव्यप्रकाशः पढ़ने के लिए ही पढ़ा है." यह किस्सा मुझे वरिष्ठ आलोचक नंदकिशोर नवल ने ही सुनाया था और सुनाने के बाद मुझसे पूछा कि इससे क्या समझे? फिर स्वयं ही उन्होंने समझाया कि "जिस समय जिस विषय पर काम कर रहे हो उससे जुड़ी हर प्रकार की सामग्री देखनी चाहिए, जरूरी नहीं कि जब तुम लिखने लगो तो सबका उपयोग हो ही, पर देखे रहने से वह सब पार्श्व में रहकर भी सहायक होता है. प्रो. नंदकिशोर नवल के गुजर (यह गुजरना शब्द भी अजीब विडंबना लिए है. कभी लगता है कि यह समय गुजर क्यों नहीं जा रहा और कभी लगता है कि यह पल गुजर क्यों गया!) जाने के बाद जब मैं उनके द्वारा लिखी जाने वाली आलोचना के तरीके पर सोच रहा हूं तो मुझे उपर्युक्त किस्से से निकलने वाली बात इस संदर्भ में सटीक लग रही है. सैद्धांतिक रूप से यह बात बहुत बार कही गई है कि आलोचना में शोध का तत्त्व आ जाने से आलोचना स्थायी एवं दृढ़ हो जाती है तथा शोध में आलोचनात्मक दृष्टिकोण आ जाने से शोध अच्छा हो जाता है परंतु इसका व्यावहारिक रूप कैसा हो इस पर कम ध्यान दिया जाता है. प्रो. नंदकिशोर नवल के आलोचना लिखने का तरीका आलोचना और शोध के मिश्रण का व्यावहारिक परिणाम है. नीचे के कुछ उदाहरणों से शायद यह बात स्पष्ट हो.

यह सभी जानते हैं कि नंदकिशोर नवल ने मुख्यतः हिंदी कविता और उसमें भी विशेषतः आधुनिक हिंदी कविता को अपने अध्ययन का विषय बनाया. आधुनिक हिंदी कविता में उन्हें मुक्तिबोध, निराला और मैथिलीशरण खास तौर पर पसंद रहे. इनके साथ उन्होंने दिनकर, नागार्जुन और अज्ञेय पर भी स्वतंत्र किताबें लिखीं. निराला की कविताओं पर अत्यंत मेहनत और आत्मीयता से लिखी गई किताब 'निराला : कृति से साक्षात्कार' है. यह किताब दो खंडों में पहले सारांश प्रकाशन, दिल्ली से और फिर बाद में राजकमल प्रकाशन, दिल्ली से एक ही खंड में छपी है. इसकी भूमिका में नवल सर ने लिखा है कि "इसमें निराला की कविता पर विचार करने के लिए इधर-उधर की बातों को छोड़कर रचना से साक्षात्कार करने की पद्धति अपनाई गई है." इस किताब में सबसे पहला लेख निराला की प्रसिद्ध कविता 'जुही की कली' पर है. सावधान पाठक इस बात को तुरंत ही लक्ष्य कर लेगा कि यद्यपि भूमिका में आलोचक ने रचना से साक्षात्कार की बात कही है पर इस लेख का पहला हिस्सा इस कविता के प्रकाशन-वर्ष, प्रकाशन से संबंधित बातें और इसके प्रारूप पर है. इतना ही नहीं नंदकिशोर नवल ने अपनी इस किताब के परिशिष्ट में 'जुही की कली' के तीन 'प्रारूप' भी दिए हैं. जाहिर है कि यह सब बिना शोध के संभव नहीं हुआ होगा. रचना से साक्षात्कार का मतलब यह नहीं कि पाठक को उससे संबंधित इतिहास का पता ही न हो. आलोचक का काम पाठक को सिर्फ सूचना देना या व्याख्या तक ही पहुंचाना नहीं है बल्कि यह भी है कि पाठक स्वयं कुछ उद्भावनाएं कर पाए. इसके लिए तथ्यों की जानकारी आवश्यक है. यहां आलोचक को यह भी सावधानी रखनी पड़ती है कि वह तथ्यों का अंबार इतनी रूखाई से न लगा दे कि रचना को ग्रहण करने वाली पाठक की कल्पना-शक्ति के पंख ही इस भार से टूट जाएं. मुझे नंदकिशोर नवल की संगति में रहने का मौका मिला है. जब वे सूरदास पर पुस्तक लिख रहे थे तो उन्होंने मुझसे कहा था कि "टाइम्स ऑफ इंडिया पहले साल के अंत में कुछ चुनिंदा सामग्री का संकलन निकालता था. उसी में 1980 से 1985 के बीच वाले संकलन में डी. डी. कोसाम्बी का लेख कृष्ण पर छपा था. खुदाबख्श लाइब्रेरी, पटना में जाकर देखो. अगर मिल जाए तो उसकी फोटोकॉपी कराकर ले आना." यह अलग बात है कि यह सामग्री खुदाबख्श लाइब्रेरी पटना में नहीं मिली. इसी तरह उन्होंने राधा पर लिखी शशिभूषणदास गुप्त की किताब 'श्री राधा का क्रमविकास', जो हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी से 1956 ई. में छपी थी, को कहीं से उपलब्ध करने को कहा.

संयोग से मेरे पास इस किताब की फोटोकॉपी थी तो मैंने उन्हें तुरंत दे दी. उनके द्वारा पढ़ी गई यह किताब मेरे पास आज भी थाती की तरह सुरक्षित है. बाद में मैं एक दिन उनके पास गया तो देखा कि वे सुवीरा जायसवाल लिखित पुस्तक 'वैष्णव भक्ति का उद्‌भव और विकास' पढ़ रहे हैं. 'सूरदास' किताब के 'निवेदन' में उन्होंने लिखा है कि "यहां इस पड़ताल में जाने की कतई जरूरत नहीं है कि ईसवी सन् के आरंभ के पूर्व ही वैदिक विष्णु और अवैदिक नारायण तथा वासुदेव कृष्ण ये तीनों देवता कैसे मिलकर एक हो गए. वैदिक विष्णु आर्य देवता थे, अवैदिक नारायण द्रविड़ मूल के देवता और वासुदेव कृष्ण वृष्णि नामक जनजाति के देवता." जब मैंने यह अंश 'सूरदास' किताब में पढ़ा तो मेरी आंखों के सामने यह पूरी प्रक्रिया घूम गई और मैं यह समझ पाया कि इस छोटे से अंश को लिखने के लिए भी नवल सर ने कितनी चीजें देखी थीं! इसी तरह जब वे मैथिलीशरण गुप्त पर किताब लिख रहे थे तो 'राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त अभिनंदन-ग्रंथ', जो प्रसिद्ध कलाविद वासुदेवशरण अग्रवाल के प्रधान संपादकत्व में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त अभिनंदन समिति, कलकत्ता द्वारा 1959 ई. में लगभग एक हजार पृष्ठों में प्रकाशित हुआ था, को मुझे देते हुए कहा कि "जाओ! इसमें से श्री ऋषि जैमिनी कौशिक 'बरुआ' लिखित 'इकहत्तर वर्षों की अभिनंदनीय गाथा' जो लगभग दो सौ पृष्ठों का है, को इस ग्रंथ से अलग करवाकर बंधवाकर ले आओ." मैंने बालसुलभ उतावली में कहा कि "इससे किताब खराब नहीं होगी?" नवल सर ने मुस्कुराते हुए जवाब दिया कि "पहली बात तो यह है कि यह इतना मोटा ग्रंथ है कि इसे पूरा हाथ में लेकर पढ़ना मुझसे संभव नहीं है. दूसरी बात यह कि यह अभिनंदन-ग्रंथ मैंने काम करने के लिए ही न जुटाया है! रचनाकार के जीवन को जानना जरूरी है. पर यह जानना उसके साहित्य में पैठ और उसे समझने के लिए ही है." इसी किताब को लिखने के क्रम में उन्होंने मुझे पैसा देकर नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी भेजा और वहां से प्रसिद्ध कला-संग्राहक राय कृष्णदास के गद्यगीतों की नकल लाने को कहा. ऐसा इसलिए कि गुप्त जी की रचना 'झंकार' पर उन गद्य गीतों का प्रभाव था. आलोचना में शोध का यह मिश्रण नंदकिशोर नवल की आलोचना में शुरू से ही रहा है. प्रमाण के लिए उनकी आरंभिक पुस्तकों में से एक 'हिंदी आलोचना का विकास' के अंत में दी गई ग्रंथ-सूची देखी जा सकती है.

नंदकिशोर नवल की आलोचना-पद्धति की दूसरी विशेषता यह है कि वे तथ्यों को हमेशा प्राथमिक स्रोतों से जुटाते रहे हैं. किसी 'सेकेंडरी इन्फॉर्मेशन' पर उनका भरोसा नहीं रहा है. 'आधुनिक हिंदी कविता का इतिहास' किताब की भूमिका में उन्होंने इसका जिक्र भी किया है. कहीं कोई दुविधा होने पर वे किसी भी कविता-संग्रह के प्रथम संस्करण को अधिक महत्त्व देते थे. एक बार मैं उनके पास गया तो उन्होंने कहा कि "त्रिलोचन का 'धरती' संग्रह निकाल दो." मैं तय आलमारी से 'धरती' का अपेक्षाकृत नवीन संस्करण यह सोचकर उठा लाया कि यह नई किताब है, पुरानी क्यों ले जाऊं? किताब उनके पास ले गया तो वे देखते ही बोले कि "यह नहीं, प्रथम संस्करण भी उसी में होगा, वह ले आओ, इसमें प्रूफ की भूलें हैं. किताब में उद्धरण इससे जाएगा तो वहां भी अशुद्ध छपेगा." इसी तरह जब वे दिनकर रचनावली (काव्य खंड) का संपादन कर रहे थे तो कविताओं के वर्गीकरण के लिए दिनकर जी की समस्त कविता-पुस्तकों के प्रथम संस्करण को ही आसपास रखे रहते थे. प्राथमिक स्रोतों पर भरोसे का ही यह परिणाम है कि आप उनकी व्याख्या से सहमत-असहमत तो हो सकते हैं पर आपको उनके लिखे में तथ्यों की भूलें नहीं मिलेंगी. और यदि कहीं हैं भी तो प्रूफ की भूल के कारण.

यह बात भी प्रसिद्ध है कि नंदकिशोर नवल रचना या पाठ को महत्त्व देने वाले आलोचक थे. उन्होंने अपना बहुत सारा आलोचनात्मक लेखन किसी रचना या पाठ की व्याख्या और विश्लेषण करने के क्रम में ही किया है. उन्होंने इस बात का भी हमेशा ध्यान रखा कि आलोचना साहित्य के साधारण पाठकों एवं साहित्य की दुनिया में तुरंत प्रवेश करने वाले विद्यार्थियों के लिए भी हो. हिंदी में यह बात पता नहीं कैसे प्रचारित हो गई लगती है कि अगर आप विद्यार्थियों के लिए कुछ लिखते हैं तो वह स्तरीय नहीं होता या वह आलोचना की उच्च भूमि से गिर जाता है. अंग्रेजी या दूसरी भाषाओं में ऐसा नहीं है. वहां बहुत-सा आलोचनात्मक काम विद्यार्थियों को ध्यान में रखकर किया जाता है. उदाहरण के लिए कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस और ब्लैकवेल पब्लिशिंग से विभिन्न विषयों पर प्रकाशित 'कम्पेनियेन' को देखा जा सकता है. इसी तरह से अंग्रेजी के ही प्रसिद्ध प्रकाशक 'रूटलेज' से 'न्यू क्रिटिकल इडियम' सीरीज देखी जा सकती है जिसमें साहित्य से संबंधित मूल अवधारणाओं पर अलग-अलग किताबें हैं. हिंदी में ऐसी किताबों की कमी है. आज अगर हिंदी का विद्यार्थी विभिन्न प्रचलित 'वादों' को ही समझना चाहे तो उसे श्रेष्ठ किताबें नहीं मिलतीं. जैसे मान लीजिए कोई विद्यार्थी अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषणवाद, संरचनावाद या विखंडन-वाद को ही समझना चाहे तो उसे इन विषयों पर केंद्रित ठीक-ठाक किताबें शायद ही मिलें. नवल सर ने यह बात समझी थी और यह भी कहा करते थे कि उनसे विद्यार्थियों को क्या मिला यह उन्हें नहीं पता पर विद्यार्थियों से उन्हें क्या मिला यह उन्हें अवश्य मालूम है. इसीलिए उन्होंने विद्यार्थियों को ध्यान में रखकर भी खूब लिखा. 'असाध्य-वीणा', 'राम की शक्ति-पूजा', 'सरोज-स्मृति', 'अंधेरे में', 'प्रलय की छाया' आदि कविताओं की उन्होंने

व्याख्या की. शमशेर बहादुर सिंह, जो एक दुरूह कवि समझे जाते रहे, की सर्वाधिक प्रसिद्ध पांच कविताओं की व्याख्या कर उनकी कविता में प्रवेश का रास्ता खोला. इस लेख में नवल सर ने एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात बताई है कि कविता बिना अर्थ के भी लिखी जा सकती है. इसी तरह उन्होंने 'प्रियप्रवास', 'साकेत', 'कामायनी' और 'उर्वशी' पर स्वतंत्र लेख लिखे जिससे हम जैसे विद्यार्थी इन कृतियों के मर्म से परिचित हो पाए. आलोचना का एक काम साहित्यिक रुचि का निर्माण भी है. यह तभी संभव हो सकता है जब साहित्य की दुनिया में आए नवागंतुक का स्वागत भी किया जाए और उस के लिए सहूलियत भी बनाई जाए. सहूलियत का मतलब आसानपसंदी नहीं है. यह एक गहरे प्रशिक्षण का मामला है. इन किताबों या लेखों को लिखकर नवल सर ने कविता की दुनिया में किसी नए विद्यार्थी के प्रवेश के लिए सहूलियत बनाई. इतना ही नहीं अपने लेखन और अपने जीवन से उन्होंने अनेक नए लोगों को आगे बढ़ाया. अनेक लोगों की प्रतिभा पहचानकर उनसे लिखवाया. उनकी आलोचना का सरोकार हमेशा साहित्यिक रहा. उन्होंने अपनी आलोचना में बिना सरसता को नुकसान पहुंचाए शोध, प्राथमिक स्रोतों पर यकीन और साधारण पाठकों की सहूलियत का पूरा ध्यान रखा. संस्कृत के आचार्य राजशेखर ने अपनी पुस्तक में चार प्रकार के 'भावक' की चर्चा की है. 'भावक' शब्द संस्कृत काव्यशास्त्र में 'आलोचक' का समानार्थी है. राजशेखर ने पहले को 'अरोचकी' कहा है जिन्हें अच्छी से अच्छी रचना भी पसंद नहीं आती. दूसरे 'सतृणाभ्यवहारी' हैं जो हर रचना चाहे वो जैसी हो उस पर वाह-वाह कर उठते हैं. तीसरा प्रकार 'मत्सरी' है. ये किसी के गुण को प्रकट नहीं करते, मौन ही रहते हैं, ईर्ष्या-द्वेष भी इनके लिखे में होता है. चौथा प्रकार 'तत्त्वाभिनिवेशी' है जो काव्य के सघन 'रस' का पान करता है और रचना के गूढ़ तात्पर्य को खोज निकालता है. प्रो. नंदकिशोर नवल के आलोचनात्मक लेखन को जो कोई भी पढ़ेगा वह स्वीकार करेगा कि वे निश्चय ही तत्त्वाभिनिवेशी आलोचक थे.

❐

संपर्क : सहायक प्राध्यापक (हिंदी), दक्षिण बिहार केंद्रीय विश्वविद्यालय, गया (बिहार)
ईमेल : ypshekhar000@gmail.com

सलीम ख़ां फ़रीद की ग़ज़ल

जब तक यह मतदान है भाई
तब तक तुझ पर ध्यान है भाई

कोई उस तोते को मारे...
जिसमें इनकी जान है भाई

गर्भ गृहों में केवल विग्रह
सीढ़ी पर भगवान है भाई

तेरी ही कुरबानी देंगे
तू जिन पर कुरबान है भाई

कुछ भी ज्ञान नहीं है हमको
कितना अद्भुत ज्ञान है भाई

कबिरा का ढाई आखर ही
अब तक लहूलुहान है भाई

❐

संपर्क : हसामपुर
सीकर-332718 (राजस्थान)
मो. : 9413070032
ईमेल : salimkhanfareed@gmail.com

अनिल 'मानव' की ग़ज़ल

वफा की आस देकर वो निभाना भूल जाता है
बुरा हो वक्त तो यारों जमाना भूल जाता है

उलझकर आदमी घर की जरूरत में ही रातों-दिन,
मुहब्बत जिंदगी में ही जताना भूल जाता है

करूं मैं क्या, किसी के गम को सुनकर यार अक्सर ही,
मेरा दिल अपने दर्द को सुनाना भूल जाता है

अमीरों को जहां सारा ये हरदम याद रखता है
गरीबों को मगर यारों जमाना भूल जाता है

अजब फितरत है साहब इस जमाने की कहें तो क्या
बड़ा होकर बशर रिश्ता निभाना भूल जाता है

❐

संपर्क : तिल्हापुर, कौशांबी (उत्तर प्रदेश)
पिन कोड-212218
मो. : 7398120105
ईमेल : akmanav86@gmail.com

पाठकों और शोधार्थियों की भारी मांग पर

का

सत्ता-विमर्श और दलित

(अगस्त 2004 अंक)

शीघ्र ही पुस्तकाकार रूप में उपलब्ध

कहानी

होरी खेलूंगी कह कर बिस्मिल्लाह

•

अनिल चौधरी

शिक्षा : राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से निर्देशन में डिप्लोमा लेखन : कई विदेशी नाटकों का रूपांतरण, टी.वी. धारावाहिकों का लेखन व कई फिल्मों का संवाद लेखन, अनेक नाटकों व टी.वी. धारावाहिकों का तथा एक फिल्म का निर्देशन एवं टी.वी. धारावाहिकों का निर्माण.

संपर्क : 303, गुलिस्तान ए हिंद, दसवां रास्ता, जुहू स्कीम, मुंबई-400 049
मो. : 9930345907
ईमेल : acpplmail@gmail.com

दरअसल वे भारत को स्वतंत्र देख कर ही मरना चाहते थे. इधर देश आजाद हुआ, उधर पंडित मुरारी लाल शर्मा खुशी-खुशी 'स्वर्गीय पंडित मुरारी लाल शर्मा' हो गए.

लोग आजादी का जश्न मना रहे थे.

'हिंदुस्तान' अखबार गांव भर में केवल सेठ खूबी राम के यहां ही आता था. मंडी भाव देखने के लिए. आज उसमें नेहरू जी के 'ट्रिस्ट विद डैस्टिनी' वाले भाषण का तर्जुमा भी छपा था. जिसे उन के चौबारे में जाकर कुछ लोग पढ़कर समझने का असफल प्रयत्न कर रहे थे.

लेकिन पिताजी का वृहद हस्त सिर से उठ जाने के कारण पंडित मुरारी लाल के दोनों बेटे राधेश्याम और जगन्नाथ सपरिवार रो रहे थे.

न जाने क्यों जगन्नाथ राधेश्याम से तेरह साल छोटे थे. पंडित मुरारी लाल शर्मा के गोलोकवास को साढ़े ग्यारह साल बीत चुके थे. एक दिन पंडित राधेश्याम शर्मा भी एक पत्नी और दो बेटियां जगन्नाथ के हवाले करके इस संसार को नश्वर सिद्ध करते हुए निकल लिए.

अब बचे पंडित जगन्नाथ शर्मा. जगन्नाथ को ही अब गांव के लोग 'पंडिज्जी' कहकर बुलाते हैं. पंडिताई, सैकड़ों बीघा जमीन और गढ़ी के अब वही इकलौते मालिक हैं.

गढ़ी, गांव का सबसे बड़ा कच्चा घर है. घर क्या है, तकरीबन डेढ़ बीघा जमीन में बना हुआ मिट्टी का छोटा सा किला है. गढ़ी के आंगन में रसोई है. यानी कि आंगन और रसोई एक हैं भी और नहीं भी. आंगन कहां खतम होता है और रसोई कहां शुरू होती है, यह विवादास्पद है. यह कुछ इस तरह है कि आत्मा और परमात्मा एक हैं भी और नहीं भी. शायद द्वैताद्वैतवाद इसी को कहते हैं.

तो वहीं खीर की बड़ी-सी देगची और कांजी बड़े के मटके से सटके पंडित जी की भतीजी यानी कि उनके स्वर्गवासी बड़े भाई राधेश्याम की सांवली सलोनी बेटी सुजाता बैठी है. उसके साथ उसके पति ने पांच महीने पहले जो कर्म किया था उसी का सुपरिणाम पेट में लिए गुंझिया बना रही है. जगन्नाथ पंडित की पत्नी रामदेई तल

रही है. गोरी होने के अलावा रामदेई के नैन-नक्श भी अच्छे हैं, पर उसकी आंखों पर भरोसा नहीं किया जा सकता. इस समय भी उसकी एक आंख तो शत-प्रतिशत कढ़ाई की ओर है, पर दूसरी के बारे में थोड़ा कंफ्यूजन है. यानी कि यह बताना कठिन है कि वह आंख क्या ढूंढ रही है और जो ढूंढ रही है वह क्यों ढूंढ रही है.

जगन्नाथ पंडित की तावदार मूंछें और बाल श्वेत-श्याम हो गए हैं, कद काठी अच्छी है. कसरत के कारण शरीर भी गठीला ही कहा जाएगा. पंडित जी का रंग पक्का है. उनका क्या, उनका लगभग पूरा खानदान ही श्यामवर्ण चला आ रहा है. जगन्नाथ पंडित आजकल उन चीजों पर कम ध्यान देते हैं जो उन्हें विरासत में मिली हैं, जैसे कि गढ़ी, खेती बाड़ी, बाग-बगीचे और पंडिताई. नेतागिरी उनकी अपनी उपलब्धि है इसलिए उन्हें वही अधिक प्रिय है.

आगामी विधान सभा के उपचुनाव में खड़े होने के लिए कुछ ज्यादा ही जोर से लंगोट को कस के तैयारी कर रहे हैं. बलराज मधोक और सुचेता कृपलानी दोनों से मिल आए हैं. पंडित जगन्नाथ शर्मा के लिए विधायक बनना महत्त्वपूर्ण है, पार्टी नहीं. जो भी उन्हें टिकट दे दे बस उसी के हो जाएंगे. ठीक उसी तरह जैसे पिता पंडित मुरारी लाल और बड़े भाई राधेश्याम के आदेशानुसार गोरी किंतु दृष्टिदोष से ग्रस्त पत्नी रामदेई को अपना लिया था.

पिता का तर्क था—मूरख! नसल सुधर जाऐगी, संतानें गोरी होंगी चौंकि पंडित दाऊदयाल त्रिवेदी की छोरी बहुत गोरी ऐ.

ठीक ही कहा क्योंकि नेत्र के क्षेत्र में जो समस्या है वह तो अनुवांशिक होती नहीं.

रामदेई और सुजाता से कुछ दूर, आंगन की मोरी पर पट्टेदार कच्छा और सैंडो बनियान पहने उकड़ू बैठा पंडित जी का बारह साल का लल्ला नमकमिश्रित सरसों के तेल से अपने दांत रगड़ रहा है, पर एकटक देख कहीं और रहा है. नहीं नहीं, क्षितिज नहीं, वह आंगन में संभव नहीं है. जगन्नाथ पंडित के इस पतले-दुबले, चित्ताकर्षक और गौरवर्ण नौनिहाल के सिर पर एक अदद पतली-सी चुटिया और गले में तुलसी की माला के अलावा बनियान में से जनेऊ भी झांक रहा है. उसके सामने बैठी लाइट ब्राउन कॉम्प्लैक्शन वाली कुतिया, बबली, लल्ला को कुछ ऐसे देख रही है जैसे नंदी शिव जी को ताकता रहता है. बबली के पीछे तीन बड़े-बड़े चित्र हैं. एक में हनुमान जी अपना सीना चीरते हुए सबको सियाराम की छवि दिखा कर शो ऑफ कर रहे हैं. दूसरे में कृष्ण भगवान जसोधा मैया से माखन चोरी के जुर्म में पिट रहे हैं. तीसरा ब्लैक एंड व्हाइट है. यह पंडित मुरारी लाल का फोटो है. इसमें वे ऐसे लग रहे हैं जैसे बाल गंगाधर तिलक अपनी पगड़ी कहीं भूल आए हों. इस पर मैल खाई कागज के फूलों की एक मोटी सी माला पड़ी है.

रामदेई और सुजाता के पीछे एक बंद दरवाजा है. उसकी दरारों में से धुआं इसलिए निकल रहा है क्योंकि उसके अंदर धूपबत्ती और अगरबत्तियां जल रही हैं. धूप और अगरबत्तियां इसलिए जल रही हैं क्योंकि उसके अंदर मंदिर है. दरवाजा इसलिए बंद है ताकि देवी देवताओं के ग्रहण करने से पहले ही कहीं उनका प्रसाद बबली न खा जाए.

लल्ला आज प्रसन्न भी है और चिंतित भी. प्रसन्न? ...क्योंकि घर में पकवान बन रहे हैं, शाम को होली जलेगी और कल धुलैंडी है. चिंतित? ...क्योंकि होली जलेगी कैसे, रात की बारिश में होलिका दहन के लिए लकड़ियों का जो ढेर था, वह तो सील गया होगा. और दस दिन बाद ही आठवीं के इम्तिहान हैं, इसीलिए आज भी गोपाली मुंशी जी ने दोपहर बाद सब बच्चों को पढ़ाने के लिए हसनपुर बुला लिया है.

ऐन उसी समय बरामदे के बाहर से एक चिचियाती हुई आवाज आई. यह चोखेलाल चाय वाले की दुकान में रखे रेडियो से आती हुई देवकीनंदन पांडे की गदराई आवाज और टिकट नरायन की चक्की की 'पक-पक-पक' से भी तेज थी. यह रामदेई की जेठानी, सुजाता की मां, लल्ला की ताई और पंडित जगन्नाथ की भाभी गुलकंदी की गुहार थी—अरे लै गया...आज फिर लै गया...जि माटीमिला कौआ मेरे दांत आज फिर उठा के लै गया...अरे भाजौ रे कोई...

रामदेई और सुजाता दोनों की फिक्क से हंसी निकल गई. जल्दी से गंगासागर से पानी लेकर लल्ला ने कुल्ला किया, चूल्हे के पास आकर एक गरम-गरम गुंजिया उठाई और उसे खाता हुआ भागा बाहर.

अरे कमबखत घुटन्ना बनियान में ई कौआ ढूंढने भाग रहा ऐ क्या...? ठंड लग जाएगी...कम ते कम कमीज तौ पहर लै—रामदेई चिल्लाई.

सुजाता बड़े परिश्रम के बाद अपनी हंसी रोककर बोली—'हमेसा अम्मा दांतों का कटोरा चौंतरा पै ई धर देती ऐं.

मैंने कै बेर कही ऐ कि भाभी सबेरे उठते ई दांत लगा लिया करौ पर सुनती ई नाएं—रामदेई गुंजिया की परात लेते हुए बोली.

लल्ला जब बरामदे में पहुंचा तो देखा कि बिना दांत की पोपली ताई चली आ रही हैं, लल्ला ने मुस्कुराते हुए पूछा, "कहां रखे थे दांत?"

"कूआ के पास चौतरा पै", ताई लगभग चीखते हुए बोलीं.

"किस तरफ गया ऐ कौआ?"

पश्चिम की ओर उंगली उठाते हुए बोलीं, 'पेंठ की तरफ उड़ा था...'

बरामदे के दूसरे छोर पर बैठी रेवती धनकुटे से ओखली में कुछ कूट रही थी. वह भी बत्तीसी निकाले, पर बिना आवाज किए

हंस रही थी.

लल्ला भागा कुएं की ओर. उसी जोशोखरोश के साथ पीछे-पीछे बबली. कुएं पर पांच-छह तामड़ियां, कलसे और घड़े रखे थे और आजकल प्रचलित हास्य कलाकार राजू श्रीवास्तव का हमशक्ल मूला राम पानी खींच रहा था. कुएं की बगल में नीम का एक घना पेड़ था.

लल्ला ने पूछा—अरे मूला! तैनैं देखा क्या कौआ?

बबली की भावभंगिमा से लग रहा था कि शायद वह भी यही जानना चाह रही है. बजाय सीधा जवाब देने के मूला ने ही जड़ दिया एक सवाल—'लल्ला बाबू! पानी खैंचूं कि कौओं को देखता फिरूं?'

मूला द्वारा की गई इस बेअदबी का बुरा न मानते हुए लल्ला और बबली भागे बैठक की तरफ. पेंठ में जाने के लिए एक द्वार बैठक में भी था.

"अरे...अरे नंगा उघाड़ा कहां भागा जा रा ऐ लल्ला?" चौड़े तिलक और मोटी चुटिया धारी पंडित जी चिल्लाए. चौधरी मकबूल खान ने कुएं, अखाड़े और बैठक के बीच में कपड़े धोती हुई सुडौल बटनियां से नजर हटाते हुए लल्ला को देखा और पूछा, "जे आपके साहबजादे ऐं?" पंडित जी ने हामी भरी और केसरिया रंग के दूध का एक घूंट भी. चौधरी मकबूल खान की शक्ल बेहद अतियथार्थवादी-सी थी. चौधरी साहब हसनपुर के कुछ-कुछ वैसे ही नेता हैं जैसे पंडित जी यहां के लोहियाभक्त हैं.

दीवार पर गांधी जी की वह तस्वीर लगी दिख रही थी जिसमें एक बच्चा उनकी लाठी पकड़कर उन्हें न जाने कहां ले जा रहा है.

आलू की रसेदार सब्जी में डुबोके चौधरी साहब ने कचौड़ी खाई. "अब तो इन्हें माफ करदो पंडिज्जी" चौधरी साहब ने चाय की चुस्की लेते हुए, उन दो अधनंगे कमेरों के लिए कहा जो पृष्ठभूमि में कान पकड़कर उठक-बैठक लगाते हुए गढ़ी की महत्ता बढ़ा रहे थे.

पूरे साढ़े चार रुपए का नुकसान किया है इन्नैं मेरा...

पास ही खड़ा मांगी लाल एक पंखे से मक्खियां उड़ाने की कोशिश कर रहा था. तभी नौहरे से भैंस के रंभाने की आवाज आई और पंडित जी कमेरों से बोले, "जाओ रे, ताल पै पानी पिबाने लै जाऔ ढोरों को!" पता नहीं कैसे पंडित जी को कमेरों पर दया आ गई या फिर शायद यह ध्यान आ गया होगा कि ये अगर उठक-बैठक ही लगाते रहेंगे तो गाय-भैंसों को पानी पिलाने कौन ले जाएगा?

टिकट नरायन की चक्की की आवाज और भी तेज सुनाई दे रही थी. अब देवकी नंदन पांडे आकाशवाणी भवन से निकल कर संसद मार्ग पर चाय पीने चले गए थे, अतः चोखे लाल के रेडियो पर अब उनकी जगह दो अति उत्तेजित गायिकाओं ने ले ली थी. वे 'हंसता हुआ नूरानी चेहरा, काली जुल्फें रंग सुनहरा' गा रही थीं. उन दिनों इस गाने ने नई नई प्रतिष्ठा अर्जित की थी. ठीक उसी तरह जैसे कुछ साल पहले 'मुन्नी बदनाम हुई डार्लिंग तेरे लिए' और 'माय नेम इज शीला, शीला की जवानी' ने की थी.

कहीं दूर, गांव के दूसरे छोर से हुरियारों की टोली के गाने और ढफ बजाने की भी धीमी आवाज आ रही थी :

आज बिरज में होरी रे रसिया
होरी रे रसिया, बरजोरी रे रसिया
सौ मन लाल गुलाल मंगाई,
दस मन केसर घोरी रे रसिया

तेज दौड़ते कुम्हारों के गधों के गोल ने जो धूल पेंठ के मैदान उड़ाई थी, जब छंटी तो दिखा कि गुलकंदी ताई के मिट्टी से सने दांत लल्ला के हाथ में थे. वह इस समय केदार चाचा की साइकिल मरम्मत की दुकान के सामने खड़े हमउम्र लड़कों के एक झुंड का हिस्सा था. सदा पासिंग शो सिगरेट पीने वाले केदार चाचा इस वक्त भी मुट्ठी में दबाए पासिंग शो ही पी रहे थे और सदा साइकिल मरम्मत करते रहने वाला उनका असिस्टेंट अनवर इस समय भी अपना कुपोषित पिछवाड़ा खुजाते हुए एक साइकिल की मरम्मत ही कर रहा था.

सामने ही मैदान में लल्ला से कुछ और छोटे बच्चे आपस में एक-दूसरे पर धूल-मिट्टी, कीचड़, गोबर, लीद आदि जो भी वहां उपलब्ध था, फेंक रहे थे. आज वे छोटी होली मना रहे थे. बेसब्री से कमर और पूंछ हिलाती हुई बबली इन्हीं बच्चों के इर्द-गिर्द घूम रही थी. शायद ऊधम मचाते बच्चों का यह भव्य दृश्य बबली को अधिक प्रभावित कर रहा था.

'जाऔ रे, होरी खेलौ...यहां क्या देख रए औ?' नाक से धुआं छोड़ते हुए केदार चाचा ने लड़कों से कहा जो उन्हें ही टकटकी बांधे घूर रहे थे.

"चाचा! तुम्हारी धोती को देख रए ऐं!"

बच्चे हंसे और केदार चाचा ने जल्दी से गर्दन झुकाकर अपनी धोती का मुआइना किया. "चौं हरामखोरौ, मेरी धोती में ऐसा क्या ऐ?"

एक थोड़ा-सा कम नाबालिग लड़का बोला "अच्छा जि बताऔ कि तुम पादौगे कब?'" इस बार बच्चे और भी जोर से हंसे, यहां तक कि अनवर भी केदार चाचा से चेहरा छुपा कर हंसा. केदार चाचा जबरदस्त परेशान. गुस्से से सिगरेट फेंकते हुए बोले "जि बक क्या रए औ रे तुम, मेरे पादने ते तुमें क्या लैना-दैना?"

जल्दी से केदार चाचा ने दियासलाई से दूसरी सिगरेट जलाई और अनवर को हिदायत दी "इस कमीन को पकड़ और पूछ इससे कि जि क्या बकबास कर रा ऐ" माहौल में खिलखिलाहट अभी भी तैर रही थी.

कम नाबालिग बोला—अरे ठैरौ, बताता ऊं, उस्मान रंगरेज का जो छोटा भाई ऐ ना, जावेद? बो कै रा था कि जब केदार चाचा पादते ऐं तो बिनकी धोती में ते धुआं

निकलता ऐ...

हंसी का एक फव्वारा फूटा. केदार चाचा ने आग बबूला होते हुए साइकिल का एक पहिया कुछ इस तरह उठाया जैसे भगवान श्रीकृष्ण ने महाभारत में रथ का पहिया उठा लिया था. वे बच्चों की मां-बहनों का आह्वान-सा करते हुए भागे उनकी ओर.

"मन तौ मेरा जनसंघ ते ही खड़ा होने का ऐ और पार्टी भी टिकट देने को तैयार बैठी है, पर क्या ऐ कि बाताबरण बैसा नाऐं जैसा होना चइऐ, इसीलिए सुचेता कृपलानी जी ते भी मिल लिया ऊं, अब देखते ऐं कि बांके बिहारी को क्या मंजूर ऐ..."

चौधरी साहब ने अपनी झबरी भंवें सिकोड़ते हुए पूछा, 'बाताबरण ते आपका क्या मतलब ऐ?'

बाताबरण ते मेरा मतलब है कि नेहरू जी के कारण जादातर बामन भी कांगरेस को ई बोट देते ऐं...आपई बताऔ ऐसी जनसंघ ते खड़े होने ते क्या फायदा ऐ?

पर पंडित नेहरू को तौ दिल के दो दौरा पड़ चुके ऐं...अल्ला बिनपै करम फरमाबै ...बे न रहे तौ कांगरेस का...

कुछ नईं बिगड़ने बाला...आपको पता नईं ऐ...जे केसर और अखरोट खाने बारे कस्मीरी बामन बड़े कटकटे होते ऐं...ऐं- पंडित जी ने तुरंत चौधरी साहब की बात काट दी.

थोड़ी ही दूर पर सिलबट्टे के सामने पालथी मारकर बैठामूला शाम की भांग और ठंडाई के जुगाड़ में पूरी निष्ठा के साथ जुटा था.

चौधरी बोले—आप अगर कांगरेस ते लड़े तौ हमारे बोट आपस में बंट जाएंगे.

आपका मतलब ऐ कि मैं जनसंघ ते लडूं और अपनी जमानत जब्त करवालूं,... ऐं?

पंडित जी ने यह कोई हंसी की बात नहीं कही थी फिर भी न जाने क्यों दोनों बड़ी देर तक हंसे. हंसने से फुर्सत मिलते ही पंडित जी सोचने लगे. सोचने से उन्हें जल्दी ही फुर्सत मिल गई, बोले "देखौ जी, पूरा खेल बाताबरण का ऐ...ईस्वर की कृपा ते अगर बाताबरण बन गया तौ जनसंघ ते भी लड़ सकते ऐं..." चौधरी अब भी 'वातावरण' का मतलब समझने में लगे हुए थे.

अब तक लल्ला का स्नान ध्यान, पूजा-अर्चना, कलेवा, दोपहर का खाना आदि सब कुछ हो चुका था.

गढ़ी के बाहर बरगद पर बैठे कौओं में कुछ कहासुनी-सी हो गई थी. कुछ लेंड़ी कुत्ते उन पर भोंक रहे थे. गढ़ी के अंदर से सामंतवादी कुतिया बबली उन्हें भोंकते हुए डांट रही थी कि 'बेवकूफो! बिला वजह क्यों शोर मचा रखा है...?' पर वे कहां मानने वाले थे. आखिरकार लोकतंत्र में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता भी तो कोई चीज होती है.

ऊपर आसमान में नारंगी सूरज के सामने से टिटरी टीं—टिटरी टीं करता हुआ टिटहरियों का एक जत्था जा रहा था और नीचे जमीन पर निंदा-रस का पान करती औरतों का एक गिरोह तालाब की ओर अपने किए-कराए को धोने के लिए जा रहा था.

लल्ला सबका लाड़ला है. सिर्फ इसलिए नहीं कि वह पढ़ाई में अच्छा है और एक अनुशासित बच्चा है, बल्कि इसलिए भी कि वह स्वर्गीय पंडित मुरारी लाल शर्मा का इकलौता पोता है. भविष्य में इस धरोहर का उत्तरदायित्व उसे ही अपने कंधों पर उठाना है. कंधे पर बस्ता लटकाने के बाद लल्ला ने पटिया से लालटेन उठाई. लालटेन इसलिए क्योंकि हसनपुर से वापस आने के समय कभी-कभी अंधेरा हो जाता था.

लल्ला तिखाल में रखे शीशे में अपनी कमीज को निहार रहा था. गांव भर में टैरिलिन की कमीज केवल उसी के पास थी.

रामदेई ने टेर लगाई, 'अरे लल्ला! ठहर एक मिनट!' उठी और बरामदे की ओर तेजी से जाने लगी, 'आ मेरे संग!' लल्ला भी पीछे हो लिया. रामदेई ने बरामदे की खूंटी से गूलरी की एक माला उतारी जो मूंज की जेवरी में गोबर के सात छल्लों की माला थी. लल्ला के सिर पर उसे घुमाने लगी, लल्ला कनफ्यूज्ड लेकिन रामदेई ने उसे सात बार घुमाया. बोली, 'नरसिंह भगबान की जै बोलके इसको होरी के ढेर में डाल दीओ.' लल्ला ने आज्ञाकारी पुत्र की तरह सिर हिलाया और माला ले ली. बबली को पहले ही मूला ने ट्रैक्टर से बांध दिया था क्योंकि एक बार वह लल्ला के साथ हसनपुर तक चली गई थी. अब लल्ला चार चीजों से लैस था, गूलरी की माला, लालटेन, बस्ता और माथे पर चंदन का टीका.

आज से ठीक एक महीने पहले तालाब और नत्थो भड़भूजे के भाड़ के बीच में माघ पूर्णिमा को गूलर की टहनी गाढ़ी गई थी. यहीं था होली का ढेर. पूर्व की ओर रंगरेजों, मिरासिओं, कुंजड़ों, तेलियों और जुलाहों के आठ-दस छोटे-छोटे कच्चे घर और बारह-तेरह झोंपड़ियां थीं. ये सब मुसलमान थे, अल्पसंख्यक थे और गरीब थे. इन घरों के आगे एक विशाल पीपल का पेड़ था जिसके नीचे बैठकर मिरासी कल होली मिलन पर गाए जाने वाले गानों का रियाज कर रहे थे. इन्हीं के इर्द-गिर्द कुछ लोग बैठे चौपड़ खेल रहे थे. गानों का आनंद ले रहे थे. वहीं पास ही में एक मदारी डुगडुगी बजाते हुए बंदर और बंदरिया का खेल दिखा रहा था. बंदर को देवानंद बनाया हुआ था और बंदरिया को वहीदा रहमान. उन्हें विभिन्न आकार और प्रकार के बच्चे देख रहे थे. ये वे बच्चे थे जो अपना पुश्तैनी काम सीखते थे. खाली वक्त में आवारागर्दी करते थे. पढ़ते कतई नहीं थे. औरतें अपने रोजमर्रा के कामों और बेवकूफी की बातों में लगी थीं. लड़कियां दूर खड़ी मदारी का खेल देखकर बिला वजह खिलखिला रही थीं. मुर्गियों को जमीन में से न जाने क्या ढूंढ़ने की जल्दी पड़ी थी.

आज रोजाना के मुकाबले हसनपुर जाने

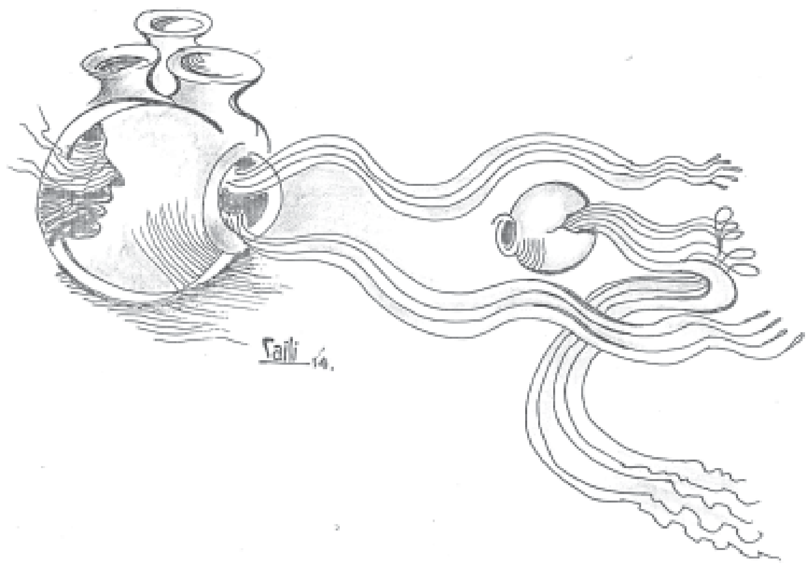

होरी खेलूंगी कह कर बिस्मिल्लाह

हाथ जोड़कर पाऊं पड़ूंगी, आजिज होकर बिनी करूंगी

जैसे ही बच्चे गरम-गरम चने लेकर चलने को हुए तभी नत्थो को एक खाली खड़खड़िया आती दिखी. उसने आवाज लगाई, "अरे ओ नैकसे! कहां जा रा ऐ रे?" नैकसे ने अपने खच्चर को रुकने का इशारा किया. पीक थूकी और चिल्लाया, "हसनपुर...!" उद्वेग के कारण इस बार नत्थो पर खांसी का ऐसा दौरा पड़ा कि उसने नत्थो को बोलने ही नहीं दिया. उसने इशारों-इशारों में ही समझाने का प्रयत्न किया कि 'नैकसे लड़कों को अपनी खड़खड़िया से हसनपुर छोड़ दे'...कमाल की बात है कि नैकसे और लड़के तो क्या, नैकसे का खच्चर भी समझ गया कि करना क्या है.

घूरे लाल को गुलकंदी ताई ने फटकारा कि वह शाम हुए क्यों आया है. उसने तुरंत चार थैलियां उनके सामने रख दीं जिनमें चार रंग थे, लाल, पीला, हरा और नीला साथ में ही बांस की बड़ी-बड़ी पांच पिचकारियां भी. गुलकंदी खुश. घूरे लाल को ढाई सेर गेहूं तो मिले ही साथ में पकवान भी ले जाने के लिए मिले. कुछ दूरी पर बैठक के सामने पंडित जी, मसनद का सहारा लिए बैठे थे. उन्होंने कमर पर एक ऐसा पारदर्शी और मुख्तसर-सा लाल अंगोछा लपेटा हुआ था जिसमें से उनका कुछ ज्यादा ही जोर से कसा हुआ लंगोट कसमसाता दिख रहा था. पैरों में खड़ाऊं थे. अपने दस-बारह चेले-चपाटों के साथ रबड़ी खा रहे थे और भांग पी रहे थे.

ऊपर आसमान में नारंगी सूरज के सामने से टिटरी टीं–टिटरी टीं करता हुआ टिटहरियों का एक जत्था जा रहा था और नीचे जमीन पर निंदा-रस का पान करती औरतों का एक गिरोह तालाब की ओर अपने किए कराए को धोने के लिए जा रहा था.

वाले बच्चे कुछ जल्दी ही घरों से निकल आए थे. उन्हें देखना था कि होली के ढेर के क्या हाल चाल हैं. आठों लड़के होली के ढेर का निरीक्षण कर रहे थे. उनके ख्याल से ढेर बहुत छोटा था. लकड़ियां तो पसीजी हुई थीं ही. मां की दी हुई माला लल्ला ने होली के ढेर पर रख दी. धीमे स्वर में नरसिंह भगवान की जय भी बोल दी. पीपल के पेड़ के नीचे से गाने बजाने की आवाज आ रही थी :

होरी खेलूंगी कह कर बिस्मिल्लाह

नाम नबी की रतन चढ़ी, बूंद पड़ी इल्लल्लाह...

आज धुआं नत्थो भड़भूजे के भाड़ से कम और नत्थो के मुंह और नाक से ज्यादा निकल रहा था. जब वह चिलम का सुट्टा खींचता तो उसकी आंखें भगवान बुद्ध की तरह अधमुंदी-सी हो जातीं. चेहरे पर भाव ऐसा हो जाता कि जैसे चिलम का धुआं उसके फेफड़ों तक नहीं बल्कि अंतरआत्मा तक पहुंच रहा है. जैसे इस समय उसने अपने आप को चिलम के हवाले कर दिया है. आत्मसमर्पण कर दिया है. साथ ही वह उन आठ बच्चों को भी देखे जा रहा है और तकरीबन समझ गया है कि माजरा क्या है. नत्थो की मूंछें कुछ ऐसी थीं जैसी जवानी में लाला लाजपत राय की रही होंगी. उसने आवाज लगाई, "अरे लल्ला बाबू! यहां आऔ!" और फिर बहुत बुरी तरह खांसने लगा.

मिरासियों के गाने की आवाज आ रही थी :

होरी खेलूंगी कह कर बिस्मिल्लाह...

लड़के भाड़ की तरफ चलने लगे. तभी पीछे से 'कैं कैं कैं कैं' की आवाज आने लगी, उन्होंने पीछे मुड़कर देखा तो पता चला कि बतखों की एक टुकड़ी परेड करते हुए तालाब की ओर जा रही है. वे नत्थो के भाड़ पर आ चुके थे. चिलम उल्टी करके बुझाई जा चुकी थी. खांसी बंद हो चुकी थी. नत्थो बोला, "लल्ला बाबू, तुम चिंता मत करौ, आराम ते पढ़बे जाऔ." फिर पीपल की ओर हाथ दिखाते हुए बोला, "इस मोहल्ले के बालकन ते कह दूंगा, साम तक होरी कुतुबमीनार-सी हो जाएगी, वैसे भी साले दिनभर ढुक-ढुक मिच्ची खेलते ऐं...और आज धूप तेज ऐ, साम तक जे लकड़ियां भी सूख जांगी." बच्चे जाने को ही थे कि नत्थो बोला–चना खाऔगे रे बालकौ?

तीन चार बच्चों ने मुंडी हिलाई पर लल्ला बोला–पइसा नाऐं काऊ पै!

कोई बात नाऐं एक-एक मुट्ठी लै जाऔ, बाद में दो-दो मुट्ठी कच्चे चना दै दियों

गीत की आवाज अभी भी आ रही है :

मिरासीगण और श्रोतागण तो धुंधले दिख रहे थे पर पीपल के पेड़ पर बैठे तोतों में हो रही तू-तू, मैं-मैं और मिरासियों के गाने और बजाने की आवाज साफ सुनाई दे रही थी :

जब फागुन रंग झमकते हों तब देख बहारें होली की

और दफ के शोर खड़कते हों तब देख बहारें होली की

बेरियों की झाड़ियों के किनारे-किनारे हसनपुर से डेढ़ कोस का सफर तय करके आता हुआ आठ लड़कों का समूह तालाब से केवल एक खेत दूर था. बच्चों की चाल को देखकर लग रहा था कि वे थककर चूर हो चुके हैं.

गांव के अधिकतर घरों और झोपड़ियों से धुआं उठ रहा था...यह आजकल की फैक्ट्रियों से निकलने वाला विध्वंसक धुआं नहीं बल्कि दाल रोटी मुहैया कराने वाला धुआं था. अब लड़कों की चाल में तेजी आ गई. सबको होली के ढेर की कैफियत जो जाननी थी.

गाना अब भी चल रहा था :

गुलजार खिले हों परियों के और मजलिस की तैयारी हो

कपड़ों पर रंग के छीटों से खुशरंग अजब गुलकारी हो

फागुन की पूनों के चांद की चांदनी और लल्ला की लालटेन की रौशनी में जब बच्चों ने देखा कि नत्थो भड़भूजे ने अपना वादा निभाते हुए वास्तव में होली के ढेर को बहुत ही ऊंचा करवा दिया है तो उनके चेहरे भी रौशन हो गए. वे नत्थो को धन्यवाद देना चाहते थे लेकिन भाड़ बुझ चुका था और वह जा चुका था. पीपल के नीचे से गाने बजाने की आवाज आना भी बंद हो गई थी. ढेर पर काफी से कंडे, गूलरी और सूत की मालाएं भी दिख रही थीं.

तभी एक बच्चा हसनपुर की ओर हाथ करके चिल्लाया "अरे, बो देखौ...हसनपुर में होरी जर गई..." सब ने उसी ओर देखा. देखते ही रह गए. उन्हें लगा जैसे हसनपुर की होली की आग उनकी खिल्ली उड़ा रही हो. चिढ़ा रही हो.

जुगल किशोर खिन्न मन से बोला– 'हम तौ थोड़ी देर में सो जांगे, हमारी होरी कब जरैगी?' किसी के पास कोई जवाब नहीं था. बच्चों में एक चुप्पी और बेचैनी सी छा गई.

ऐसे ई होरी थोड़े ई जरा दी जाती ऐ, हर गाम में पंडिज्जी महूरत निकारते ऐं तब जराई जाती ऐ!' दया शंकर ने सांत्वना-सी देते हुए खामोशी तोड़ी और अपने घर की ओर चल दिया. उसके साथ-साथ चार और लड़कों ने घर जाने का फैसला किया.

अब बाकी बचे हुए तीन बच्चों के पास एक-दूसरे का मुंह ताकने के अलावा और कोई काम नहीं था. तीनों ने मुड़कर एक बार फिर हसनपुर की होली को देखा. अपने होली के ढेर को देखा. एक-दूसरे को देखा.

सत्यपाल ने लल्ला से पूछा, 'महूरत तौ तेरे बाऊजी ई निकारते ऐं?'

लल्ला ने 'हां' में सिर हिलाया. एक कुसूरवार की तरह हिचकिचाते हुए.

और बड़ा होके महूरत तू निकारा करैगा?

क्या पता...?

क्या पता क्या होता ऐ, तू ई तो निकारा करैगा और कौन निकारैगा?

हां अगर निकारूंगा भी, तौ...?

तौ क्या...? तू अभी का...इसी टैम का महूरत निकार दै ...

दिमाग तौ नईं फिर गया ऐ तेरा? बाऊजी खाल खैंच के भुस भर देंगे...चलौ घर, थोड़ी देर में जे भी जर जाऐगी, तब तक अगर जगे रहे तौ हम भी देख लेंगे होलिका दहन...

इतना कहकर लल्ला ने अपने घर की ओर चलना शुरू कर दिया. बाकी दोनों लड़के भी अनमने मन से अपने-अपने घर जाने लगे.

दिन भर खूब तेज धूप खिली थी. अब सलेटी बादल छा गए थे. चांद भी कभी दिखता कभी छुप जाता. निपट अकेला लल्ला अपनी गढ़ी की ओर अपना बस्ता और लालटेन लिए जा रहा था, पर ऐसे, जैसे उसके पैरों में किसी ने पत्थर बांध दिए हों.

तभी उसे सामने ही बबली खड़ी दिख गई जो शायद उसी की राह देख रही थी. लल्ला को देखते ही बबली ने वहां से गुजरती हुई कैलाश गड़रिए की बकरियों के मिमियाते हुए रेवड़ को नजरअंदाज कर दिया और बैली डांस-सा करते हुए जोर-जोर से पूंछ हिलाने लगी.

पेंठ में छोटी छोटी दुकानें लगाने वाले अब अपने अपने घरों को वापस जा रहे थे. कुछ सिर पर पोटलियां उठाए हुए और कुछ ठेलियों में अपना सामान ले जा रहे थे. तभी कहीं से औरतों के गाने की आवाज आने लगी :

नैनन में पिचकारी दई, मोय गारी दई, होरी खेली न जाय

नैक न कान करत काहू की, नजर बचावे भैया बलदाऊ की

पनघट सौं बतराय, होरी खेली न जाय...

लल्ला और बबली घर पहुंचे. बरामदे में पड़े पलंग के नीचे ही लल्ला ने अपना बस्ता और लालटेन रखे. वह निढाल होकर ऐसे लेट गया जैसे गोआ के समुद्र तट पर विलायती महिलाएं पसर जाती हैं. तभी रामदेई ने लल्ला से कहा कि वह तुरंत तैयार हो जाए क्योंकि सब होलिका दहन के लिए निकलने वाले हैं.

अब औरतें दूसरा गीत गा रही थीं :

नैक ठाड़ौ रह स्याम, तोपे रंग डारूं, नैक ठाड़ौ रह

ओ रंग हो हो हो हो हो होरी, नैक ठाड़ौ रह...

अपने पांच साल के बेटे के साथ, सेठ खूबी राम की बेटी छत से सूखे हुए कपड़े

उतारने गई थी. जैसे ही उसने इस तीन मंजिले पक्के घर की छत से देखा कि होली जलने लगी है, वह जोर से चिल्लाने लगी, 'अरी ओ मय्यो ओ-ओ! चल जल्दी होरी जर गई-ई-ई...बाकी सब को भी बुलालै-ऐ-ऐ...किसोरी चाचा के घर भी खबर कर दियो ओ ओ!'

छोटी-छोटी चमगादड़ें गढ़ी के सामने वाले बरगद से उड़कर आतीं और गढ़ी की एक गज मोटी दीवार से बिना टकराए वापस लौट जातीं. तभी गढ़ी का फाटक खुला. सबसे आगे धोती-कुर्ता पहने, मंत्र बुदबुदाते हुए जगन्नाथ पंडित प्रगट हुए "अहकूटा भयत्रस्तैःकृता त्वं होलि बालिसैः अतस्वां पूजयिस्यामि भूति-भूति प्रदायिनीमः!"

उनके पीछे-पीछे उनका सुसज्जित पूरा परिवार था.

रामदेई के हाथ में एक बड़ा-सा पीतल का थाल था. उसमें फूलों की माला, रोली, हल्दी की गांठें, गेहूं, उड़द, मूंग, चना, जौ, चावल, फल और गुड़ था. उसकी एक आंख रास्ते को देख रही थी. दूसरी आते-जाते हुए लोगों को. सुजाता के एक हाथ में जल से भरा एक बड़ा-सा कांसे का लोटा था. दूसरे हाथ में अधपके गेहूं और जौ की बाल. पेट में पांच महीने का बच्चा. थका मांदा और ऊंघता-सा लल्ला भी धोती-कुर्ता पहने हुए एक नारियल लेकर चल रहा था. उसकी गुलकंदी ताई भी नई साड़ी और दांतों का सैट लगाकर अपनी उम्र से कुछ छोटी लग रही थीं. उनके एक हाथ में कच्चे सूत की मालाएं और दूसरे में एक गोबर की ढाल थी. कुछ नौकर-चाकर और बबली भी साथ थे. यानी कुल मिलाकर इंतिहाई खुशनुमा और खुशबूदार मंजर था.

और भी बहुत सारे परिवार होलिका दहन के लिए जाते दिख रहे थे. चोखेलाल की दुकान को अमूमन लोग चाय की दुकान ही कहते थे लेकिन वहां घटिया मूंगफली के तेल में तले कचौड़ी और पकौड़े भी मिलते थे. समोसे का चलन तब तक इस गांव में नहीं हो पाया था, गांजे का हो गया था. इसलिए चोखेलाल की दुकान पर गांजा भी उपलब्ध था. सजाधजा चोखेलाल दूर से ही चिल्लाया "पाय लागैं पंडिज्जी...!" पंडित जी ने उसे बिना देखे कहा, "सुखी रहौ..." चोखेलाल बोला, "चिंता मत करौ पंडिज्जी... पूरा गाम तुमैं ईं बोट देगा...!" इस बार वे उसकी आंखों में आंखें डालकर, हाथ जोड़ कर बोले, "बस कृपा बनाए रखौ जिजमान!" बिन मांगे मिले इस सम्मान से चोखे लाल डर गया.

सबसे पहले सेठ खूबी राम का भरा-पूरा परिवार ही होली के ढेर के करीब पहुंचा. किशोरी लाल सुनार का परिवार भी उनके साथ ही था. सेठ जी की टांट पर जो बचे खुचे बाल थे वे भक्क सफेद थे. जब वे गठिया के कारण कुछ हास्यास्पद तरह से लंगड़ाकर चलते तो मौलियर के कोई पात्र लगते. सेठ खूबी राम की खूबी थी कि वे इस गांव के सबसे रईस आदमी होते हुए भी हमेशा अपना लो प्रोफाइल बनाए रखते थे, ताकि कहीं उनके यहां डकैती न पड़ जाए.

जैसे ही दूर से पंडित जी ने जलती हुई होली देखी तो उनके पैरों के नीचे से जमीन खिसक गई. वे जड़ हो गए. उनकी आंखें फटी की फटी रह गईं. मंत्रोच्चारण बंद हो गया. जीभ पथरा गई. चेहरे पर हवाइयां उड़ने लगीं. पर भांग उन्हें होलिका की ओर धकेले ही जा रही थी. जैसे ही सेठ खूबी राम ने जगन्नाथ पंडित को पीछे से पूजा की सामग्री लेकर आते हुए देखा तो स्तंभित रह गए और पंडित जी को घुघ्घू की तरह घूरते हुए बोले..."अरे जगन्नाथ...! जब तू अब आ रा ऐ...तौ होलिका दहन कौन नै कर दिया?" दरअसल यही पंडित जी भी सेठ जी से पूछना चाह रहे थे...पंडित जी के चेहरे पर आश्चर्य, हताशा और क्रोध से मिश्रित भावों का आवागमन होने लगा, भर्राए गले से बोले, 'हे ईस्वर! न पूजन...न कच्चे सूत के साथ होलिका की परिकम्मा...न अर्घ... ऐसे ई जरा दी होरी? जिसने भी किया ऐ...महा पाप किया ऐ...घोर अनर्थ किया ऐ!'

तालाब के उस पार से सियारों के चिल्लाने की आवाज आने लगी जिसके जवाब में वहां मौजूद कुत्ते भी भौंकने लगे. बबली भी भौंकने की अनुमति लेना चाह रही थी कि तभी मुसलमानों के लड़कों की तरफ इशारा करते हुए सेठ जी बोले, "जगन्नाथ...! सब से प्हैलैं यहां हमारा ई परिवार आया ऐ और हम से भी प्हैलैं से जे लोंडे खड़े थे..." और फिर बशीर कुंजड़े के लड़के से सेठ जी ने चिल्लाकर पूछा, 'चौं रे...! होरी में आंच कौन ने लगाई?'

मुझे क्या पता सेठ जी...हमनै तौ बस पूरे दिन होरी में डालने के लिए लकड़ी इकट्ठी करी थीं...फिर अभी होरी जरती देखी...तौ हम भी आ गए!

पंडित जी बहुत जोर से चिल्लाए, 'तौ अब खड़े-खड़े क्या देख रए औ यहां...चलौ भाजौ यहां से!'

साथ में सेठ जी ने भी उसमें जोड़ दिया, 'इतने लीतरे पड़ैंगे कि अकल ठिकाने आ जाऐगी!' लड़के काफी डर गए. धीरे-धीरे वहां से खिसकने लगे. मुसलमानों की औरतें और लड़कियां जो अपनी-अपनी झोंपड़ियों और घरों के बाहर खड़ी होलिका दहन देखना चाह रही थीं, सहमकर वे भी अंदर जाने लगीं.

किशोरी लाल ने खुद से ही पूछा "ऐसा गलत काम और कौन कर सकता ऐ?

अब तक और बहुत से परिवार भी आ चुके थे.

'मुझे बहुत गुस्सा आ रई ऐ भाई साब' पंडित जी गुर्राए. वास्तव में उनकी आंखें लाल तो हो रही थीं. वे गुस्से के कारण थीं या भांग के कारण यह नहीं कहा जा सकता.

तू पंडित मुरारी लाल सर्मा का बेटा ऐ, धैर्य ते काम लै और बैसे भी चुनाव तेरे सिर

पै ऐ.

'इसी मारें तौ सान्त ऊं भाई साब!' एक क्षणिक अंतराल के बाद पंडित जी ने निरीह भाव से सेठ जी से पूछा, 'तौ अब तुम ई बताऔ कि क्या करा जाय?'

अरे! पंडित तू ऐ कि मैं ऊं...? तू ई सोच कोई उपाय जाते हम पै और गाम पै कोई बिपदा न आबै!

यह सुन कर पंडित जी अपनी पंडिताई को जगाने की कोशिश करने लगे.

'होरी तौ जर ई गई!', यह पंडित जी ने कुछ इस तरह कहा जैसे उनका सर्वस्व लुट गया हो. फिर बोले, 'अब सब अपनी-अपनी पूजन की सामग्री होलिका में समर्पित करौ. ...ढाल, गूलरी और कच्चे सूत की मालाओं की आहुति दो...परिकम्मा लगाऔ...फिर अर्घ दे दिया जाएगा.'

सब पंडित जी के आदेश का पालन करने लगे...

अहकूटा भयत्रस्तैःकृता त्वं होलि बालिशैः

अतस्वां पूजयिष्यामि भूति-भूति प्रदायिनीमः...

प्रह्लादाय नमः...

होलिकायै नमः...

नरसिंहाय नमः...

होलिका दहन के बाद लल्ला की आंख लग गई. घर की औरतें भी सो गईं. पंडित जी, सारे नौकर-चाकर, तथा कथित कार्यकर्ता और बबली बाहर थे.

कहीं से कोई आवाज नहीं आ रही थी...न तो चक्की की, न रेडिओ की, न हुरियारों की और न औरतों के गाने-बजाने की. कुल मिलाकर चारों तरफ सन्नाटा था.

तभी पीपल के पेड़ के पास जो घर हैं, वहां से एक अजीब तरह की चीख-पुकार सुनाई देने लगी...बड़ी भयावह...खौफनाक.

छत पर सोता हुआ सेठ खूबी राम का पूरा परिवार उठ गया था. पीपल के उस पार के घरों में आग लगने से जो हाहाकार मचा था उसे देख रहा था. सेठ जी के परेशान हाल पुत्र ने पूछा, 'इतने घरों और झोंपड़ों में एक साथ आग लगी कैसे? और बो भी सिरफ मुसलमानों के...?'

'जे अगर हिंदुओं के त्यौहार में अनिस्ट करेंगे तौ हिंदू क्या हाथ पै हाथ धरे बैठे रहेंगे?' सेठ जी ने हिकारत के साथ कहा.

पीपल के इस तरफ दहन हो चुका था. पीपल के उस तरफ हो रहा था.

कुछ देर बाद ही अचानक लल्ला झटके से उठा, शायद गढ़ी में हो रहे शोर-शराबे और बादलों की गड़गड़ाहट ने उसे उठा दिया था. वह उठ कर पेशाब करने गया. दरअसल उन आवाजों का निचोड़ यह था कि 'पीपल के पेड़ के पास जो घर हैं, उनमें किसी ने आग लगा दी है...केवल एक बुढ़िया मरी है, कुछ लोग जख्मी हो गए हैं...पर सारे झोंपड़े जल गए हैं...'

बादलों का रंग दहन के बाद बची राख जैसा हो गया था. वे नाराज थे. बहुत जोर से गरज रहे थे. उन्हीं के पीछे मुंह छुपाता चांद फूहड़ लग रहा था.तभी कहीं बिजली गिरी. लल्ला बाहर की तरफ भागा. गढ़ी के अहाते और घर के बीच में जो द्वार है उसी की चौखट पर ही रामदेई खड़ी थी. उसने अपनी त्रिभंगी मुद्रा भंग करके लल्ला को वहीं रोक लिया. तकरीबन तीन चौथाई अहाता लोगों से भरा था. गैस की लालटेनों के प्रकाश में सेठ खूबी राम, केदार चाचा, टिकट नरायन, नत्थो, किशोरी लाल वगैरह सभी दिख रहे थे.

तभी बादलों की जबरदस्त गड़गड़ाहट और बिजली की चमक के साथ बारिश शुरू हो गई. पर होली तो जल चुकी थी और कुछ गरीबों के घर भी. गढ़ी में लोग अहाते से छप्परों के नीचे आने लगे.

केदार चाचा ने मुट्ठी में दबी पासिंग शो की राख को चुटकी बजाकर झाड़ा. दुखी मन से पंडित जी से बोले, 'हमारे अनबर का भी घर जर गया...पंडिज्जी! जि आग लगाई कौन ने होगी?' जगन्नाथ पंडित बहुत जोर से चिल्लाए, 'अरे, मुझे क्या पता कौन ने लगाई ऐ...?'

उनकी इस झुंझलाहट और चिल्लाहट से ऐसा लग रहा था जैसे कि उनको मालूम है कि आग किसने लगाई है. रामदेई कस कर लल्ला का हाथ थामे हुए थी. ऐन उसी वक्त गढ़ी के फाटक के अंदर तीर की तरह एक साइकिल दाखिल हुई. उससे चोखेलाल उतरा. उसकी सांस लोहार की धौंकनी की तरह चल रही थी. उसने चारों ओर नजरें घुमाईं. जैसे ही पंडित जी को देखा वह हांफते हुए चिल्लाया "पंडिज्जी...पंडिज्जी...!...दो ठेला हसनपुर ते आ रए ऐं!" सब एक-दूसरे को देखने लगे.

अरे तौ ठेला तौ यां ते मां और मां ते यां आते ई रैते ऐं...बामें कौन-सी नई बात ऐ...? किशोरी लाल बोले.

बिनमें आदमी भरे भए ऐं हथियार

लेकैं...मैने खुद अपनी आंखों ते देखा ऐ... उनके आगे आगे चौधरी मकबूल खान की जीप चल रही है...

क्या...? जीप में चौधरी बैठे ऐं...? जगन्नाथ पंडित ने पूछा.

नईं बे नाऐं दीख रए...पर उस्मान और अल्ताफ दीख रए ऐं...

गढ़ी में भूचाल-सा आ गया. हड़कंप मच गया.

लल्ला ने द्वार पर खड़ी रामदेई से अपना हाथ छुड़ाया. खुद उसका हाथ पकड़ा और उसे अंदर खींचकर ले जाने लगा.

अरे...क्या कर रा ऐ? क्या बात ऐ? अरे...बात क्या ऐ कुछ बोलैगा भी?

अब तक लल्ला रामदेई को आंगन पार करा चुका था. एक कमरे में ले गया. बबली भी साथ साथ ही थी.

अरे तू कर क्या रा ऐ...? कुछ बोल तौ सई...?

अम्मा...! अम्मा...!

रामदेई भी सोचने लगी कि लल्ला आखिर इतना घबराया हुआ क्यों है. उसने प्यार से पूछा, “हां बेटा! बता, बात क्या ऐ? और...अरे...तेरे हाथ चौं कांप रए ऐं?' जब रामदेई बोलती तो बबली उसे देखती और जब लल्ला बोलता तो उसे देखती. लल्ला के होठ भी कांप रहे थे, ‘अम्मा! अम्मा!! होरी में आंच...'

हां-हां, बोल...होरी में आंच...?

मैने...मैने नाऐं लगाई...

पर कह कौन रा ऐ कि तैने लगाई ऐ...?

नईं कोई नईं कैरा...मैं ई कैरा ऊं कि मैने नाऐं लगाई ...

हां...मुझे पता ऐ कि तैने नाऐं लगाई, पर तू इतना घबरा चौं रा ऐ...कांप चौं रा ऐ?

तौ मैं कोई जान बूझ कें थोड़े ई कांप रा ऊं...

जान बूझ के कोई नईं कांपता.

तौ मैं चौं कांप रा ऊं...?

तू इसलिए कांप रा ऐ...चौं कि तुझे पता ऐ कि आंच कौन ने लगाई ऐ...

फिर जोर से चिल्लाई—बता कौन ने लगाई...मुसलमानों के लड़कों ने...?

नईं अम्मा...सत्यपाल ने...

रामदेई ने लल्ला की बात पूरी होने से पहले ही सवाल दाग दिया—उस हुकम सिंह के सत्यपाल ने लगाई?

लल्ला हिचकिचाते हुए बोला, “नईं... हसनपुर की होरी जर गई थी” रामदेई तिलमिला रही थी. वह बेहद गुस्से में थी. वह दोनों आंखों का अलायनमेंट ठीक करके लल्ला के मन को टटोलना चाह रही थी पर फिर भी पता नहीं क्यों बबली को लग रहा था कि रामदेई की एक आंख उसे घूर रही है. बबली वहां से चली गई. रामदेई लल्ला का कान उमेंठते हुए झल्लाकर बोली मैं हसनपुर की होरी की बात नाऐं कर रई...मैं पूछ रई ऊं कि हमारी होरी...

हमारी होरी में आंच सत्यपाल ने नाऐं लगाई...

अरे बजमारे...बुई तौ पूछ रई ऊं कि तैने नाऐं लगाई, हुकम सिंह के ने नाऐं लगाई...मुसलमानों ने भी नाऐं लगाई...तौ लगाई कौन ने...?

नईं अम्मा, हम सब को नींद आ रई थी...जब तक होरी जरती तब तक हम सब सो जाते...

तौ...?

तौ उसने कही कि बड़ा होके तौ होलिका दहन का महूरत तू ई निकारा करैगा...

कौन ने कही?

सत्यपाल ने

तौ...?

तौ तू अभी का महूरत निकार दै...

रामदेई ने अपना माथा पकड़ लिया, ‘और...हे ठाकुर जी महाराज...हे परमात्मा... तैने निकार दिया...?'

नईं अम्मा...मैने तौ नाईं कर दी थी...कि बाऊजी भौत मारेंगे...

तौ सत्यानासी!...आंच जराई कौन ने...?

रामदेई इतनी जोर से चिंघाड़ी कि गुलकंदी की भी आंख खुल गई.

रामदेई ने एक सरकारी वकील की तरह सवाल किया, ‘और जब तू घर आया था तौ लालटिन भी बुझी भई थी!'

चौंकि लालटिन की बत्ती तौ...

लल्ला रोने लगा.

रोबै मत कमबखत...बता कि लालटिन की बत्ती तौ...?

अब लल्ला ने फफक-फफककर रोते हुए कहा, ‘होरी में पड़ी थी!'

अब कांपने की बारी रामदेई की थी. बिलखते हुए धम्म से खाट पर गिर गई, ‘मतलब होरी में आंच तैने लगाई थी?'

‘मैने कहां लगाई अम्मा...', लल्ला की आंख-नाक से पानी बह रहा था, “बो तौ लालटिन की बत्ती...”

लल्ला आगे भी कुछ बोलना चाह रहा था लेकिन रामदेई ने इतनी जोर का थप्पड़ मारा कि उसकी बोलती बंद हो गई. ऊपर से रामदेई ने एक हाथ से लल्ला का मुंह भी बंद कर दिया.

बस...चुप...बिलकुल चुप...अब जि म्हों ऐसे ई बंद रखना ऐ...हमेसा...तैने म्हों खोला तौ औरों की तौ छोड़...प्हैलें तुझे तेरे बाऊजी ई खोद कें गाढ़ देंगे.

कमरे के दरवाजे पर गुलकंदी आई. पर इतनी रौशनी नहीं थी कि वह देख सके कि मां-बेटे दोनों रो रहे हैं.

क्या हो गया...बाहर इतना हो हल्ला चौं ऐ...?

रामदेई अपनी रुआंस को रोककर बोली, “मुझे नईं पता भाभी...बाहर जाके देख लो!”

लल्ला को घुटन-सी हो रही थी क्योंकि रामदेई ने अब भी एक हाथ से लल्ला का मुंह बंद कर रखा था.

❐

हम तेरे शहर आए मुसाफिर की तरह

पल्लव

कथेतर

‘शहरों का सिर्फ इतिहास नहीं, भूगोल होता है. इतिहास अगर स्थायी निधि है तो भूगोल कुछ लचीला और उदार.’

—ममता कालिया

यह हिंदी में नई चीज है. इसे भी संस्मरण कहकर काम चलाया जा सकता है लेकिन यह कामचलाऊ ही होगा. इसे शहरनामा कहें या शहरगोई? शहर के बहाने जिंदगियों का हालचाल *तद्भव* के अंकों में इस शताब्दी के प्रारंभ में ममता कालिया ने किया था. इस स्तंभ का नाम था—*कितने शहरों में कितनी बार.* बाद में (2010) यह किताब की शक्ल में आया और इसने एक नई विधा का सूत्रपात किया. विज्ञ पाठक पूछेंगे कि क्या ‘काशी का अस्सी’ शहरनामा नहीं था? सुविज्ञ कहेंगे ‘बहती गंगा’? असल में जब हम यह कहते हैं कि नई शताब्दी से जरा-सा पहले जीवन में आए आमूल-चूल बदलावों ने साहित्य को भी बहुत अधिक प्रभावित किया तो उसका एक अर्थ है विधाओं में अंतर्क्रिया. जिसे संस्मरण कहा गया उसमें आत्मकथा भी थी, जिसे रेखाचित्र समझा उसमें संस्मरण भी और ‘काशी का अस्सी’ में इस तमाम दौर का रचनात्मक विस्फोट जिसमें कहानी, उपन्यास, संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, शहरनामा और आत्मकथा सब शामिल थे. ध्यान से देखें और किताब की परतों को खोलने की कोशिश करें तो समझ सकते हैं कि ममता कालिया की किताब ‘कितने शहरों में कितनी बार’ असल में शहरनामा ही है जिसमें उनके देखे-रहे शहरों के व्यक्तित्व को पकड़ा जा सकता है. शहरों के व्यक्तित्व की यह खोज ममता कालिया की इस किताब कथेतर विधाओं में सर्वथा अलग स्वर देती है. इस स्वर में शहर के बड़े व्यक्तित्व में अपनी जगह खोजते-संभालते खुद लेखक को देखना रोचक है. यहां एक और बात समझ लेनी चाहिए वह यह कि प्रचलित विधाओं के बरक्स इन नई-नई बन रही विधाओं के रूपाकार खोजने की जरूरत इसलिए नहीं है कि एक नई विधा के नामकरण का सुख साहित्य के हिस्से आ जाएगा बल्कि इससे दिनोंदिन जटिल होते जा रहे जीवन को देखने-समझने के नए आयाम इस रास्ते में कहीं मिल सकने की उम्मीद बंधती है. तबादलों के साथ जीवन में आते-जाते नए शहर मनुष्य के बुनियादी व्यक्तित्व पर कैसा असर डालते हैं? मनुष्य को शहर के साथ जोड़कर उसके व्यक्तित्व को समझने का आग्रह अब कितना सही रह जाएगा? और तो और छाती ठोककर यह कहने वाले लोग कितने मिलेंगे कि ‘आरा जिल्ला घर बा’ या ‘दिल्ली का दिलवाला हूं’? फिर क्या भूमंडलीकरण के बाद एक गांव बन चुके विश्व में ऐसा कहना संगत माना जाएगा?

तो यह किताब मथुरा से शुरू होती है जहां ममता कालिया का जन्म हुआ. आंख खोलकर देखने पर पहला शहर. यहां ममता जी के पिता का पुश्तैनी घर था. उनके पिता आकाशवाणी में अधिकारी थे और घनघोर साहित्य प्रेमी—अध्यवसायी. उनके चाचा भारतभूषण अग्रवाल तारसप्तक के कवि. मथुरा के परिवेश को ममता जी ने अपने उपन्यास ‘दुक्खम सुक्खम’ में भी खूब पकड़ा है किंतु यहां कथा का आग्रह न होने से बातें अधिक साफ सुनाई-दिखाई देती हैं. यमुना जी में नहाने जाने के किस्सों से शुरू हुआ यह शहरनामा जल्दी से बता देता है कि उन दिनों लड़कियों को यमुना जी के मगरमच्छ जिंदा निगल जाते थे. फिर स्त्री-पुरुष जीवन का भी हाल देख लीजिए, ‘मामा घर हो या दादा घर मैंने तब देखा कि स्त्रियों और पुरुषों में मेलजोल या मुहब्बत जैसा भाव दिख पाना कठिन था. ज्यादातर पुरुष अपना वक्त पुरुषों में बिताते और महिलाएं बच्चों और महिलाओं में. ’ यह आजादी के बाद बन रहा नया नया भारतीय मध्यवर्गीय समाज है. इस समाज ने शिक्षा को आगे बढ़ने की अनिवार्य शर्त के रूप में स्वीकार कर लिया है. संयुक्त परिवारों के समापन और एकल परिवारों के गठन का दृश्य तेजी से घटित होता है. ममता जी इस द्वंद्व को अपने घर में ही देखती हैं जहां उनके पिता, चाचा और दादा-दादी के मध्य नई जीवन शैली के तनाव आ रहे हैं. इनमें बुआ और बहनें भी हैं ही. वे लिखती हैं, ‘दरअसल दोनों कामयाब भाई परिवार की अपेक्षाओं का आकलन नहीं कर पाए. परिवार ने पढ़ाई का खर्च देना बंद किया था, अपना कब्जा कहां

छोड़ा था. वस्तुतः यह संयुक्त परिवार का एकल परिवार की इकाई के विरुद्ध संघर्ष था.' ममता जी के ननिहाल वाले लोग पाकिस्तान (तब अविभाजित भारत) के एक शहर एबटाबाद के थे. विभाजन के अनेक प्रसंग यहां भी आए हैं और स्वतंत्रता तथा गांधी हत्या भी. पिता की नौकरी लगते ही ममता जी दिल्ली आ गई थीं. यहीं के स्कूलों में उनकी पढ़ाई हुई. यह दिल्ली ममता जी के जीवन में बार-बार आई और गई भी. पहली बार का प्रभाव देखिए, 'पुरानी दिल्ली की रौनक का मुझ पर प्रभाव पड़ा. दरअसल जब हम किसी शहर को नया अथवा पुराना कहते हैं हम भूल जाते हैं कि ये दो समानांतर संसार अपनी तरह से वहां रहने वालों को समृद्ध करते हैं. कोई किसी का स्थानापन्न नहीं हो सकता.' दिल्ली में रहने का लाभ यह मिला कि उन्हें गांधीजी के अंतिम संस्कार में सम्मिलित होने का अवसर मिला. उन्हीं दिनों का एक रोचक प्रसंग किताब में आया है जिसे देखना चाहिए–

'उन दिनों हमारे एक निजी सेवक ने डाकघर में डाक बांटने का काम पकड़ लिया था. फुरसत मिलने पर वह कभी-कभी आ जाता और बाजार वगैरह का काम कर देता. एक दिन आकर बोला, 'बीबी जी जरा माचिस देना.' माचिस लेकर उसने चिट्ठियों के एक बड़े पुलिंदे में आग लगा दी. पूछने पर निहायत लापरवाही से बोला, 'सब मुसल्लों की हैं. अब चिट्ठियां तो पाकिस्तान जाएंगी नहीं. सब भाग गए यहां से.' ममी के मन में पाकिस्तान का मतलब अपना वतन था. उन्होंने शिवचरण से कहा, 'क्यों रे भूल गया तू रोज मुझसे चवन्नी लेता था. 'शहनाई' पिक्चर में रेहाना का नाच देखने के लिए. आज तू मुसल्लों को कोस रहा है.' यह सच बात थी. 'शहनाई' फिल्म देखे बिना शिवचरण को नींद नहीं आती थी. वह रोज रात 9 से 12 बजे का शो देखता. जैसे ही फिल्म में 'मार कटारी मर जाना. ये अंखियां किसी से लगाना ना, ओऽऽ लगाना ना.' गाना खत्म होता शिवचरण हाल के बाहर चला आता. ममी की बात से शिवचरण खिसिया गया. फिर वह कई दिन नहीं आया.'

लेकिन यही शिवचरण जब गांधी हत्या की खबर सुनता है तो रोने लगता है और उस दिन भोजन नहीं करता.

पिता के सरकारी नौकरी में होने से स्थानांतरण होते और जल्दी-जल्दी नए-नए शहरों में जाना होता. मथुरा से चलकर ममता जी को मुंबई और नागपुर और पूना में रहने का अवसर मिला. इन शहरों के किस्से सुने लेकिन इस जल्दी-जल्दी होने वाले स्थानांतरण से बच्चों पर क्या बीतती है यह देखना चाहिए, 'कोई पूछे, अगले शहर पार्सल किए जाने से पहले बच्चों के सपनों की बांधाजूड़ी कैसे होती है.' किताब में एक प्रसंग है जब घर का सारा सामान बांधा जा रहा है और छोटी बच्ची के खिलौने-उपहार में मिली कुछ वस्तुओं को गैर जरूरी मानकर छोड़ देने का निर्णय घरवाले ले चुके हैं. मतलब इसमें सोचना क्या है? जरूरी सामान ही तो आगे जाएगा. छोटी बच्ची किसी तरह कभी इस बैग में, कभी उस टोकरी में अपना 'सामान' छिपाने की कोशिश कर रही है कि कुछ तो बच जाए. छोटी है तो अपनी सहेलियों के नाम-पते डायरी में लिख लेने की समझ कहां से आए? रेल पर उसे विदा देने उसके छोटे-छोटे दोस्त कैसे आएं? मोबाइल तो क्या उन दिनों फोन भी दुर्लभ माध्यम था. किताब की शुरुआत में ही उन्होंने लिखा था, 'जब भी कोई मुझसे पूछता है तुम किस शहर की हो, मैं बड़े चक्कर में पड़ जाती हूं. क्या कहूं! कहां की बताऊं अपने को. क्या लोगों को नहीं मालूम कि सरकारी नौकरी करने वाले बाप के बच्चे किसी एक जगह के नहीं होते. वे डेढ़-दो साल के लिए शहर में डेरा डालते हैं. तबादले का कागज आते ही वे ट्रक में सामान डाल अगले अनजान शहर की तरफ निकल पड़ते हैं. दस दिन में उनके स्कूल बदल जाते हैं, बीस दिन में बोली- बानी.' यह भी कि 'भारत सरकार के राजमजूर सपनों के महल तोड़ने में महारत हासिल किए रहते हैं.' यहां शहरों को छोड़ने-देखने-लौटने के अनेक प्रसंगों में *शहरनामा* जैसी विधा की आंतरिक जरूरत और महत्त्व को समझने का अवसर है. ममता जी यह किताब जीवन के उत्तरार्ध में लिख रही हैं तब यह अवकाश भी है कि व्यतीत की अर्थवत्ता को भी खोज सके और बिछुड़ गए स्थान के लिए व्यथित होने के बजाय नए का स्वागत करने का तर्क दे सके. यहां उन्होंने लिखा है, 'हम अपने जीवन के बल्व को कपड़े से पोंछकर जैसे वापस लगाते हैं तो वह थोड़ी और तेज रोशनी देने लगता है. नए शहर के पेड़ कुछ ज्यादा हरे, सड़कें कुछ ज्यादा चौड़ी और गलियां कुछ ज्यादा दिलचस्प नजर आती हैं.'

नागपुर में बिताए थोड़े से दिनों में भी अपने मन-मस्तिष्क में बस गई मीठे नागपुरी संतरों की सुगंध से वे तर हैं तो मंडी के आखिर में सड़कर दुर्गंध फैला रहे संतरों को भी असूंघा नहीं छोड़तीं. यहीं का एक प्रसंग है जब किसी सार्वजनिक आयोजन में लता मंगेशकर को बुलाया गया था और उनके गायन

के बीच में ही एक अप्रिय घटना हुई. आयोजन में एक युवती का दुपट्टा किन्हीं मनचलों ने खींचने की कोशिश की. इस पर युवती के भाई और मनचलों के बीच झगड़े जैसी स्थिति हुई. हल्ला और शोर होने पर आयोजन रद्द हो गया. लता जी को स्टेज के पीछे ले जाया गया. ममता जी ने लिखा है, 'पापा ने ऑफिस से आकर सारा किस्सा बताया. उन्हें बड़ी तकलीफ हुई थी.' असल तकलीफ का कारण यह था कि 'इतनी बड़ी कलाकार शहर के बारे में क्या धारणा लेकर वापस गई होंगी.' मथुरा के रहने वाले विद्याभूषण अग्रवाल के स्थान पर आज हम अपने को रखकर देखें तो शहर से प्रेम और स्थानिकता के औदात्य का मर्म समझ सकेंगे.

आकाशवाणी में पिता के होने से संस्कृति और साहित्य के विभिन्न लोगों को नजदीक से देखने-सुनने का अवसर ममता जी को बार-बार मिला. फिर पिता यह चाहते थे कि उनकी बेटियां सचमुच सुरुचि संपन्न नागरिक बनें. नेहरू युग का अब असंभव-सा लगता यह आदर्श तब यथार्थ दिखाई देता था. एक अन्य प्रसंग में नाटककार अभिनेता पृथ्वीराज कपूर का ऐसा तेजस्वी चित्र आया है कि उसे भूला नहीं जा सकता, 'नाटक खत्म होने के बाद पृथ्वीराज कपूर मंच से नीचे आते. वे अपने कंधों से शाल उतार, हाथों में लेकर कुछ पल आंख बंद कर, सिर झुकाकर, संकल्प शक्ति बटोरते और फिर शाल को झोली की तरह फैलाकर खड़े हो जाते. उनका मस्तक ऊंचा रहता, आंखें सामने की दीवार को संबोधित होतीं और उनका रोम-रोम याचक की भूमिका में भी दाता के गौरव से मंडित होता. दर्शक उनके व्यक्तित्व के वैभव से खिंचे चले आते. ज्यादातर उनकी झोली नोटों से भर जाती. हिंदी रंगकर्म को जीवित रखने के लिए पृथ्वीराज कपूर ने वर्षों ऐसा किया. उनकी वह गुरु गंभीर मुद्रा भव्य विराट और विपुल तस्वीर की तरह मेरी आंखों में बसी है. एक अद्‌भुत रंगकर्मी कला का दाय मांगता हुआ, पर अपनी शर्तों पर. मांगने की अदा ऐसी कि याचक दाता लगे और दाता याचक. असल में नेहरू युग की संवेदना भारत के आधुनिक युग की सबसे महान परिघटना स्वतंत्रता आंदोलन, बल्कि हमें इसे राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन कहना चाहिए, से निर्मित हुई थी जहां राजनैतिक आजादी के साथ एक बेहतर समाज बनाने का सपना हर किसी की आंखों में था.

पूना के संक्षिप्त प्रवास के बाद ममता को नया शहर मिलता है–इंदौर. 'विदा, विदा, विदा. लौटकर आना अब कब होगा, किसे पता! हम तो हैं सरकारी बंजारे. कहीं और जाकर रुकेंगे अपनी रेल के पहिए. कहीं और का पानी पिएंगे. कहीं और की हवा में सांस लेंगे अब. दिल की चोटें किसी को नहीं दिखानी हैं. वहां जाकर यही कहना है, 'अरे हम तो आपके ही शहर के हैं!' इंदौर में सोलह साल की ममता आई हैं. कॉलेज में पढ़ेगी. कुछ सहपाठियों के नाम देखिए– चंद्रकांत देवताले, रमेश बक्शी, वेदप्रताप वैदिक, विनय लाखे. अब वे अच्छी डिबेटर हो चुकी हैं. कॉलेज की सभी प्रतियोगिताएं जीतने वालीं. यहां साठ के दशक के इंदौर का अत्यंत भावप्रवण चित्र आया है. कितने सितारे हैं शहर में ही. क्रिकेट वाले सी. के. नायडू. साहित्य वाले शिवमंगल सिंह सुमन और हरिकृष्ण प्रेमी. शहर में आए दिन कवि सम्मलेन होते. शास्त्रीय संगीत की महफिलें सजतीं. लेकिन ऐसा भी कुछ था जो इंदौर को चुभता रहता था. असल में शहरों का भी अपना स्वाभिमान होता है, यह भूलना नहीं चाहिए. ममता जी ने इसे बहुत सुंदर ढंग से समझाया है. इंदौर के प्रसंग में इसे खूब देखा जा सकता है. आजादी से पहले मध्य प्रदेश का सबसे बड़ा, उन्नत और संभ्रांत नगर इंदौर ही था (शायद अब भी हो) लेकिन राजधानी भोपाल को बनाया गया. एक-एक कर दफ्तर इंदौर से भोपाल जाने लगे. इससे इंदौर वाले आहत हुए. ममता जी साधारण लोगों की भावनाओं को बहुत सुंदर ढंग से प्रस्तुत करती हैं, 'इंदौर के किसी छात्र में जरा-सी भी मौलिकता नजर आती, इंदौर उसे आसमान पर चढ़ा लेता. लेकिन भोपाल का कोई छात्र विशिष्ट योग्यता सूची में स्थान पाता तो इंदौर मुंह बिचका देता. ' कॉलेज में पढ़ने वाली उमर के दिन हों और प्रेम की बात न हो? लेकिन, लेकिन क्या आप ही देखिए, 'इस शहर का प्रेम करने का ढब भी बेढब था. यहां प्रज्ज्वलित करने वाला प्यार नहीं था. यहां ताउम्र तपाए रखने वाला रूहानी लगाव था. यह जरूरी नहीं जिससे लगाव है उससे विवाह हो जाए. कई बार तो लफ्जों में कहने की नौबत ही नहीं आती थी इलू. यों ही दो, चार, पांच साल मद्धम आग में जलते-जलते खिसक जाते. लड़का लड़की के घर की सड़कों पर से कभी दाएं से गुजर जाता कभी बाएं से. ...आज भी इंदौर में जिस किसी से पूछकर देखें तो पता चलेगा विवाह की अवधि पच्चीस बरस, प्रेम की अवधि चालीस बरस. इन चालीस बरसों में एक बार भी कभी उसके प्रेम ने मुंह नहीं खोला होगा, बस गीले, सुलगे उपले की तरह धुंधुंआता रहा होगा उसके मन-प्राण

में. इसका न आदि है न अंत. इस अनादि-अनंत अनुराग का अनाम और अज्ञेय रह जाना ही नियति है.' सच बताइए क्या ऐसे प्रेमी तब सिर्फ इंदौर में थे? पटना या राउरकेला में नहीं? उदयपुर या पीलीभीत में नहीं? प्रेम या प्रेम जैसा कुछ हो तो भी खलनायक जमाने के साथ और भी थे. यही लीजिए, 'किसी एक के पिता का तबादला हुआ नहीं कि बरसों की तपिश पर सरकारी पानी फिर जाता.' बहरहाल इंदौर में भी छिप-छिपकर आंसू बहाने वालों के सामने एक निडर मुहब्बत का किस्सा ममता जी ने पेश किया है जो प्रसिद्ध कथाकार-व्यंग्यकार शरद जोशी और इरफाना सिद्दीकी का है, जिसे उन्होंने रोशनदान से कूदकर शादी के अंजाम तक पहुंचाया.

इंदौर में दिल लगता इससे पहले ममता जी को भेज दिया गया. पिता चाहते थे कि ममता जी दिल्ली विश्वविद्यालय से अंग्रेजी में एम.ए. करें. तो एक ट्रेन में ममता जी की विदाई हुई और युवा तमन्नाओं का शहर इंदौर पीछे छूट गया. दिल्ली में उन्हें हिंदू कॉलेज में प्रवेश मिल गया लेकिन उनकी कक्षाएं विभाग में होती थीं. यहां उनके विभाग के पड़ोस में हिंदी विभाग था जहां सौमित्र मोहन और मनिका मोहिनी जैसे सहपाठी भी. यहीं उन्हें पहली और आखिरी बार नेहरू जी से मिलने का अवसर मिला. उनके साथ खिंचवाई तस्वीर का प्रसंग भी कम मजेदार नहीं. पढ़ाई के दौरान अंग्रेजी विभाग के अध्यापकों के साथ हिंदी विभाग के विद्वानों के प्रसंग भी आए हैं. उनके पिता भी उनके दिल्ली आगमन के पीछे-पीछे तबादला करवा यहीं आ गए. अब शहर दिल्ली था. जहां कॉफी हाउस था. जहां विश्वविद्यालय था. जहां गोष्ठियां थीं. विभागों में नामवर सिंह, भीष्म साहनी जैसे लोगों को साक्षात् सुनने के अनुभव थे. एक जगह अज्ञेय और कपिला वात्स्यायन जी को देखने का प्रसंग आया है. सोचिए तो यह कैसा अद्भुत और दुर्लभ प्रसंग है जब कोई माता-पिता अपनी संतान को ऐसे लोगों को दिखाने के लिए ही किसी कॉफी हाउस में ले जाकर बिठाएं कि अभी अज्ञेय जी आएंगे. एम. ए. पास करते ही उन्हें दौलतराम कॉलेज में अध्यापक के रूप में नियुक्ति मिल गई. यहां नजदीक के कॉलेज मिरांडा हाउस में मन्नू भंडारी थीं जिनका साथ उन्हें खूब मिला. एक प्रसंग मन्नू जी-राजेन्द्र जी के साथ कृष्णा सोबती जी के घर चाय का है जिसे शहरी संभ्रांत जीवन के कायदे से जोड़कर देखा जा सकता है. कहना न होगा कि विद्याव्यसनी पिता के संभ्रांत संरक्षण के बावजूद ममता जी का अपना व्यक्तित्व संभ्रांत होने के नखरों वाला नहीं है. मोहन राकेश को पहली बार देखने वाले प्रसंग में इसे समझा जा सकता है. दिल्ली में रहते हुए ही उन्हें एक दिन हजारी प्रसाद द्विवेदी के हस्ताक्षर वाली चिट्ठी मिलती है और चंडीगढ़ में एक कहानी गोष्ठी में जाने का निमंत्रण मिलता है. असल में तब तक ममता जी कहानी और कविता के क्षेत्र ठीक-ठाक गति प्राप्त कर चुकी थीं. इस गोष्ठी में उन्हें रवींद्र कालिया मिलते हैं. गोष्ठी के बाद दोनों साथ दिल्ली लौटते हैं. और यहां से उनके जीवन में एक नया अध्याय प्रारंभ हो जाता है.

उन्होंने लिखा है, '(रवींद्र कालिया से) एक ही दिन के परिचय ने मेरे अंदर इतनी ऊर्जा, ऊष्मा और उमंग भर दी कि मैं एड़ी से चोटी तक हरी हो गई. दिल्ली के खरदिमाग ऑटोचालकों के प्रति मन कृतज्ञ हो आया. अगर वे सीधे से मुझे शक्तिनगर पहुंचा आए होते तो कहां आता जीवन में प्रेम. पड़ी रहती किसी मनहूस महिला कॉलेज में, लड़कियों की कॉपियां जांचती. उम्र चौबीस से चौंतीस, चौंतीस से चवालीस होती जाती, रेगिस्तान रोज नजदीक आता जाता. कॉलेज में ऐसी सहकर्मियों की कमी नहीं थी जो लाल मिर्च की तरह तेज, पतली और रूखी दिखाई देतीं. वे अकेली मिकाडो में बैठी चाउमीन खातीं, ओडियन में फिल्म देख लेतीं और गर्मी की छुट्टियों में अकेली मसूरी घूमने चली जातीं. मेहंदी उनके हाथों की जगह बालों में लगती जाती और अपनी लाल केश राशि से वे अलग पहचान में आतीं. कॉमेडी पढ़ाते हुए भी उनकी मुखमुद्रा ट्रेजिक बनी रहती. इनके विपरीत विवाहित प्राध्यापिकाएं ज्यादा सुगम्य और संतुलित थीं. किंचित मृदुल, किंचित पृथुल, ये एक आंतरिक लय से अपना काम संपादित करतीं. इन्हें क्लास में जाने की कोई जल्दी न होती. अलबत्ता घर पहुंचने की बेकली जरूर दिखाई देती.'

दिल्ली को देखना और शहर को महसूस करना वे रवींद्र कालिया के साथ सीखती हैं. दिल्ली की सड़कों पर अपने प्रिय के साथ भटकना और शामें गुजारना उन्हें शहर को नई निगाह से समझने का अवसर देता है. वे लिखती हैं, 'शहर उसी का होता है जो घूमता है; शहर की सड़कें और सड़कों को मोड़ पहचानता है. हमें सिर्फ चलना होता था, पहुंचना नहीं होता था. दिल्ली की कई सड़कें कितनी खूबसूरत थीं—मनुष्य के रचे शब्दों से परे, यहां पेड़ों के पत्ते बोलते, छायाएं गले मिलतीं और टहनियों में से अंधेरे-उजाले की आइसपाइस चलती.' ममता जी अपने बचपन में इस शहर में रह चुकी हैं लेकिन अब यह वह शहर

नहीं रहा. नेहरू अब दिवंगत हैं और इंदिरा गांधी का समय आ गया है. देखिए, 'एम. ए. पास करने तक पुरानी दिल्ली बदल गई थी. चांदनी चौक में भीड़-भड़क्का तो बढ़ गया था, बाकी हर चीज घट गई थी. गली में परांठों का साइज घट गया था, संग परोसी सब्जियों की गिनती बढ़ गई थी, उनकी लज्जत घट गई थी. दरीबा कलां की चमक बढ़ गई थी. उसमें मौजूद धर्मकांटे की इज्जत घट गई थी. खारी बावली के मसालों में मिलावट की शिकायत मिलने लगी थी. और फतहपुरी से अखबार वाले फूफाजी गायब हो गए थे. लाजपत राय मार्केट अपनी नूतन चकाचौंध से चांदनी चौक का खांटीपन खत्म कर रहा था. वहां कदीमी दुकानों के खानदानी सेल्समैन ऊंघते बैठे रहते और लाजपतराय मार्किट के चुस्त पंजाबी युवक नए कट और निराली काट के कपड़े फटाफट बेच डालते. व्यापार वहीं पनपता है जहां भीड़ जाए, भीड़ लाजपतराय जाती. इस मार्केट ने क्रय-विक्रय के समस्त सिद्धांत ध्वस्त कर डाले.'

इस बदलते परिवेश में उनकी निगाह पहले कविता के परिदृश्य और तदंतर कहानी पर भी गई है. उस दौर में पहली बार उभर रही स्त्री रचनाशीलता का संभावनापूर्ण चित्र ममता जी दर्शाती हैं. वहीं कहानी की दुनिया में उनका दखल कालिया जी से मुलाकात के बाद बढ़ता जाता है. देखिए, 'पहली बार हम सब नए रचनाकार नई कहानी से हटकर कहानी लिख रहे थे. हमारी भिन्नता के बिंदु थे—कथा वस्तु, शिल्प, भाषा शैली और समस्त विन्यास. नई कहानी के पुरोधाओं को हमारे प्रयोग रास नहीं आ रहे थे. हमारे मन में उनके प्रति कोई वैमनस्य नहीं था, केवल हमें नई कहानी, पुरानी लगने लगी थी. कहानी क्योंकि संक्षिप्त विधा है, परिवर्तन इसका प्राण है. मेरी नजर अब कविता की बजाय कहानी में प्रयोगधर्मिता और प्रमाणिकता ढूंढती.'

इसी बीच दिल्ली में काम कर रहे कालिया जी को *धर्मयुग* में आ जाने का निमंत्रण मिलता है. वे जाते हैं और उनके साथ ममता जी भी नए शहर की तरफ रुख करती हैं. बंबई उनके लिए नया शहर नहीं है. तब भी नया है क्योंकि इस बार वे प्रेम और दांपत्य में गिरफ्तार हैं. बंबई जाने से पहले दोनों का दिल्ली में ही विवाह हो गया था. अब जब कालिया जी शहर छोड़ चुके हैं तो ममता जी अपने घर वालों के इंकार के बावजूद दौलतराम कॉलेज की पक्की नौकरी छोड़ देने का निश्चय करती हैं. यहां कह देना अप्रासंगिक न होगा कि कालिया दंपती ने जीवन और कैरियर की दुविधा में निर्द्वंद्व होकर हमेशा कैरियर को ठुकराया. चाहे दौलतराम कॉलेज का मामला हो या कनाडा में लाइब्रेरियन बनकर चले जाने का प्रस्ताव. क्या इसे उत्तर नेहरू युग के बच गए रोमानवाद से जोड़ा जाना उचित होगा? इस बार बंबई के अपने रंग हैं, अपने तनाव हैं. कालिया जी के दफ्तर की लड़ाइयां हैं और ममता जी के एस. एन. डी. टी. के लंपट शिक्षक के दुराग्रह. आखिर बंबई छूटना ही था. ममता जी ने लिखा है, 'ऐसे में नंदन जी से हमें पता चला कि अगर आपके कपड़े पुराने पड़ गए हैं, बैंक में थोड़े से रुपए बचे हैं, घर का सारा सामान खस्ताहाल है और किसी भी तोप से आपकी रिश्तेदारी नहीं है तो इस पूरे भारतवर्ष में एक शहर ऐसा है जो न सिर्फ आपको पनाह देगा बल्कि सलाह भी कि आओ इलाहाबाद में चैन से रहो.' हुआ यह कि कालिया जी इलाहाबाद पहुंचकर नया काम शुरू करने की कोशिश में हैं लेकिन अभी ममता जी बंबई में अपने कॉलेज की कच्ची नौकरी में अटकी हुई हैं. ऐसे में हॉस्टल में रहने वाली युवा महिलाओं के चित्त का दृश्य न भूलने लायक है, 'हॉस्टल में शामें काटना आसान नहीं था. शाम से पहले हर कमरे से लड़कियों की चहल-पहल और चहचहाहट आनी शुरू हो जाती. साढ़े चार-पांच बजे से लड़कियां अपनी डेट के लिए तैयार होना शुरू करतीं. तरह-तरह की सुगंधें गलियारे में उड़ती, टैल्कम पाउडर, सैंट, डियोडरेंट, हेयर स्प्रे. छिपाकर रखे गए आयरन से कपड़े प्रेस किए जाते, ढीले कमीज तंग किए जाते, तंग चूड़ीदार ढीले किए जाते, मैचिंग चप्पलें अदली-बदली जातीं, दस बार आईना देखा जाता, बीस बार घड़ी. कमरे की खिड़की से झांका जाता पर आठवें माले से महबूब की झलक मिलना उतना आसान भी न होता. सो कान दरवाजे की खट-खट पर होते, कब शांता बाई आकर आवाज लगाए और दरवाजा खड़काए—'वर्षा, हर्षा तमारो विजिटर'. जिसका विजिटर आ जाता वह तितली की तरह उड़ जाती.'

इलाहाबाद प्रसंग से पहले ममता जी पूछती हैं, 'शहर कब किसके हुए हैं, शहरयार तक के नहीं. तभी न उनके दिल से निकली थी यह नज्म *इस शहर में हर शख्स परेशान-सा क्यूं है?* उन्हें क्या पता हर शहर में हर शख्स परेशान-सा ही रहता आया है. कितने वक्त में कोई शहर हमारा बन पाता है. हम अपने बंजारे मन से पूछते हैं. यह मन तो मानो उतावला हुआ पड़ा है कि कब हम इस पर अपनी गठरी लादें और

दौड़ पड़ें. लेकिन हम मन को अपनी मजबूरियां समझाते रहे, खुक्ख पड़ी बैंक की पासबुक दिखाते रहे और धीरज धरवाते रहे. लेखन जगत की च्यूंइगगम और चॉकलेट उसे चटाते रहे. आज फलां जगह की मुख्य अतिथिगीरी.' लेकिन वे इलाहाबाद पर फिदा हो जाते हैं. क्यों? 'यों ही नहीं हुए हम इलाहाबाद पर फिदा. क्या अदा रही इस शहर की. यहां का बच्चा-बच्चा मौलिकता के रंग में डूबा हुआ. जिसे देखो वह कलाकार निकलता. अगर मौलिकता जानने का कोई सिटी स्कैन हो तो यकीनन इलाहाबाद सबसे ऊंचे नंबर ले जाए.' अपना शहर सबको इसी तरह प्यारा लगता है लेकिन सब कह कहां पाते हैं और निभाना इससे भी कहीं मुश्किल. इलाहाबाद के एक मोहल्ले रानीमंडी में कालिया परिवार का आशियाना बनता है जो मुस्लिम समुदाय की बस्ती थी. मुसलमान कामवालियां. दुकानदार और पूरा परिवेश. यहां चेहल्लुम पर मार्कण्डेय जी के फंस जाने का किस्सा भी आया है. लेकिन परिवेश के असर का सबसे मजेदार वाक्य जरा सा है– 'हमारे दोनों बच्चे जब जिद करते तो दोनों हाथों से छाती पीटना शुरू कर देते.'

इलाहाबाद के प्रसंग में ही वे लिखती हैं, 'शहर के लिए किसी का रहना जरूरी नहीं होता. ये तो लोग होते हैं जो उससे नाता जोड़ते हैं. कुछ लोग तो अपने नाम के साथ उसे नत्थी कर लेते हैं जैसे वसीम बरेलवी, मजरूह सुलतानपुरी, कैफी आजमी. कुछ लोग नत्थी नहीं करते, फिर भी उनके साथ शहर की शोहरत चिपक जाती है जैसे मजाज के साथ लखनऊ, गालिब के साथ दिल्ली, राही मासूम रजा के साथ अलीगढ़, कमलेश्वर के साथ मैनपुरी, राजेन्द्र यादव के साथ आगरा. रहे हैं ये सब और शहरों में भी लेकिन वह एक शहर इनका अता-पता बन गया. शहर वालों को भी इनके किस्से-कहानी सुनाने में मजा आने लगा, शहर के कुछ अड्डे इनके नाम से सरनाम हुए, साल दर साल इनके हवाले से न जाने कितने सच-झूठ तमाम हुए.' आगे उन्होंने लिखा है, 'हमने चाहा था इलाहाबाद हमें चंदन पानी, मोती धागा, सोना सुहागा जैसा अपना ले, आखिर हम तीस साल यहां रह लिए, अट्ठाइस साल नौकरी कर ली, यहां की हवाएं, सर्दी-गर्मी झेल ली.' यहां ममता जी को एक कॉलेज में प्रिंसिपली मिली और कालिया जी का प्रेस भी चल निकला. अपना समुदाय बना, दोस्त जुड़े, रिश्ते बने. उनकी कॉलेज की नौकरी का एक भयानक चित्र भी है जब अपनी बहन को परीक्षा में बैठाने के लिए नियमविरुद्ध कार्रवाई के लिए आमादा एक युवक ने उनके सर पर पेपरवेट दे मारा था. लेकिन याद रखने लायक जो प्रसंग है वह निम्न मध्य वर्ग के परिवारों की लड़कियों के एडमिशन का है. जरा-सा किस्सा है, कुछ इस तरह कि एडमिशन के लिए लड़की मां-बाप के साथ आई है. प्रिंसिपल नाम पूछ रही हैं और लड़की मौन है. आगे देखिए–

लड़की की मां ने कहा, 'नाम क्यों नहीं बताती. घर में तो चकर-चकर जुबान चलती है.'

'ससी सर्मा. लड़की के कंपकंपाते उत्तर में उसका व्यक्तित्व, भाषा, उच्चारण और जीवन स्थिति सब चरितार्थ हो जाता.'

ममता जी यहां परीक्षाओं में होने वाली नकल और कॉलेज में पढ़ाई की नियति के साथ व्यवस्थापकों की नीयत अर्थात पूरे वातावरण को उपस्थित करती हैं लेकिन हमारे शहरों के ये इलाके अब उदासी से भरे हैं जहां यदा-कदा कोई अपवाद मिल जाएं तो मिल जाएं. खैर.

ममता जी ने लिखा है, 'वास्तव में इलाहाबाद का समस्त व्यक्तित्व और चरित्र प्रतिपक्ष का है. राजनीति से लेकर इतिहास, संस्कृति और साहित्य में यह रुझान स्पष्ट दिखाई देता है. इलाहाबाद की खासियत ही समझें कि यह शहर अपने सितारे के टूटने के बाद ही स्वीकार करता है कि हां वह सितारा था. उसके जीते जी, शहर 'किंतु परंतु' की शब्दावली में उसके पैर के नीचे की मिट्टी खोदता रहता है. बंगाल अपने नायक निर्मित करता है. उत्तर प्रदेश अपने नायक खंडित करता है.'

इलाहाबाद से विदाई के बाद वे कोलकाता पहुंचती हैं जिसके बारे में उनका मत है, 'अगर किसी को इतिहास के मोटे ग्रंथ पढ़ते समय नींद आती हो तो उसे चाहिए अपनी पुस्तकों को फेंककर कोलकाता चला आए. कोलकाता जीता-जागता, चलता- फिरता इतिहास ग्रंथ है जो आज भी वर्तमान से भरपूर है. वह मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की तरह अपने भग्नावशेषों में नहीं रहता. आप उसमें रोज प्रवेश कर सकते हैं, रोज बाहर निकल सकते हैं.' कोलकाता में उनका प्रवास प्रवासियों सरीखा ही लगता है. बचपन और जवानी के शहरों की तुलना में सेवानिवृत्ति के शहर का आकर्षण कमतर ही होगा. यहां उनकी अनुभूतियां कम हैं पर्यवेक्षण अधिक. देखिए, 'फिर भी इसमें शक नहीं कि कोलकाता में अपराध बहुत नगण्य है. सुबह का अखबार पढ़ने पर यह बात साफ हो जाती है. बांग्लाभाषी जनता आत्मोन्मुखी, बौद्धिक, अध्ययनप्रिय और भावुक होती है. उसके पास पढ़ने को आज का अखबार हो, पेट में चिंगड़ीभात हो और छोटी-सी मासिक तनख्वाह हो तो उसे ज्यादा कुछ नहीं चाहिए.' कोलकाता में अब भी बचे कुछ खास रंगों को देखने की कोशिश उन्होंने की

है, 'कलकत्ते में नाट्यकर्म पुणे की तरह चलता है, नियमित, नित्य और नवीन. माइकेल मधुसूदन दत्त सभागार में उषा गांगुली का नाटक 'काशीनामा' देखा. सात सौ सीटों का हॉल खचाखच भरा था. अधिकांश दर्शक बांग्लाभाषी. अगर वह अपने बच्चों की सफलता पर गर्व नहीं कर सकता तो वह टैगोर और नजरुल पर गर्व कर संतोष कर लेता है. कभी-कभी लगता है कोलकाता का बाबू मोशाय इतिहास में जितना मगन मन रहता है उतना भूगोल में नहीं. अतीत के गौरव ग्रंथों से वह जरा-सा सिर उठाकर वर्तमान में झांकता है और वापस गौरव ग्रंथों में डूब जाता है.'

गुलामी से मुक्त होकर नए बन रहे भारत में आकाशवाणी कैसे स्वतंत्र व्यक्तित्व की लड़कियों को सहारा देती थी इसका बार बार उल्लेख हुआ है. धर्मवीर भारती से अलग होकर कांता भारती ने भी आकाशवाणी की नौकरी में अपने लिए जगह खोजी थी. उस दौर में होने वाले आकाशवाणी के आयोजनों का एकाधिक वर्णन तत्कालीन सांस्कृतिक जागरूकता और अपने कर्तव्यों के प्रति गहरी निष्ठा के परिचय देते हैं. सचमुच उस दौर में 'आकाशवाणी सूचना, ज्ञानवर्धन, मनोरंजन का साधन होने के साथ-साथ स्वतंत्र जीवन शैली का माध्यम था.'

शहरनामे लिख रही इस किताब में ममता जी के दिल के नायक कालिया जी बने लेकिन उनके मन पर अपने पिता की छवि बहुत बड़ी और विराट है. किताब पाठकों के समक्ष एक अद्‌भुत पिता विद्याभूषण अग्रवाल को लाती है. अपनी संतानों के बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास के लिए सन्नद्ध ऐसे पिता अब नहीं होते, अब बच्चों के साथ पिता भी कैरियर की चिंता में डूब गए हैं. एक जगह ममता जी ने लिखा है, 'पापा द ग्रेट', कहने को हर दुलारी बेटी के पापा ग्रेट ही होंगे लेकिन पचास के दशक में ऐसे पापा सचमुच ग्रेट ही थे जो कह सकें, 'जो भी काम करो उसमें शिखर पर रहो. माउंट एवरेस्ट पर सिर्फ दो के लिए जगह होती है, इससे ज्यादा नहीं. यह भूल जाओ कि तुम लड़की हो. ' इसी किताब में एक जगह पर ममता जी ने लक्षित किया है, 'ममी और पापा के मन में अपना अपना घर छूटने का दंश उम्र भर बना रहा. उनके अंदर एक अप्रवासी का प्रवेश हो गया. सरकारी नौकरी में जहां पहुंच जाते वहां कुछ देर को ऐसे बस जाते जैसे यहीं से उगे हों. वहां से तबादला होने पर, ट्रक में सामान लदते ही, वे ऐसे मुंह फेरते जैसे कभी कोई नाता ही न था. पापा कहते, 'बैठे होंगे अज्ञेय कितनी नावों में कितनी बार. हम तो रहे हैं कितने शहरों में कितनी बार.'' बचपन में पापा के तबादलों ने हमें भारत दर्शन करवाया; बड़े होने पर जिंदगी की ठोकरों ने घाट-घाट का पानी पिलवा दिया.'

शहरों के साथ वहां के खानपान का जिक्र होना लाजिमी है. जालंधर के गोल गप्पे और रबड़ी जैसी पौष्टिक चाय का वर्णन आया है. मथुरा के प्रसंग में भी, 'उस कचौड़ी का खस्तापन और स्वाद, आलू की रसेदार तरकारी, यहां तक कि ढाक के उस हरे दोने की सुगंध अभी तक स्मृति की जिह्वा पर बैठी हुई है ज्यों की त्यों. पता नहीं मथुरा का रिश्ता जीवन के पहले पहले स्वाद, सुगंध और साहित्य से क्यों जुड़ा हुआ है.' तब भी ममता जी महान भोजन प्रेमी तो क्या अच्छे भोजन प्रेमी के रूप में भी जगह नहीं बना पातीं. इसके लिए हमें बार बार विश्वनाथ त्रिपाठी जैसे रसिक भोजनप्रेमियों की शरण में जाना होगा.

स्मृतियों के इन शहरों में पुराने लोगों की बातें न आएं, ऐसा कैसे संभव है? अगले अंक में दिल्ली पर कुछ किताबों के साथ मिलना होगा. चलते-चलते इसी किताब से एक किस्सा खास आपके लिए—

फिराक साहब के क्या कहने. उनकी विनोदप्रियता के किस्से तो जग जाहिर हैं. एक बार फिराक साहब के घर चोर घुस आया.

फिराक साहब को रात में ठीक से नींद नहीं आती थी. आहट से वे जाग गए. चोर इस जगार के लिए तैयार नहीं था. उसने अपने साफे से चाकू निकालकर फिराक के आगे घुमाया. फिराक बोले, 'तुम चोरी करने आए हो या कत्ल करने. पहले मेरी बात सुन लो.' चोर ने कहा, 'फालतू बात नहीं, माल कहां रखा है?' फिराक बोले, 'पहले चक्कू तो हटाओ, तभी तो बताऊंगा.' फिर उन्होंने अपने नौकर पन्ना को आवाज दी...अरे भई पन्ना उठो, देखो मेहमान आए हैं, चाय-वाय बनाओ. पन्ना नींद में बड़बड़ाता हुआ उठा, 'ये न सोते हैं न सोने देते हैं. ' चोर अब तक काफी शर्मिंदा हो चुका था. घर में एक की जगह दो आदमियों को देख उसका हौसला भी पस्त हो गया. वह जाने को हुआ तो फिराक ने कहा, 'दिन निकल जाए तब जाना, आधी रात में कहां हलकान होंगे.' चोर को चाय पिलाई गई. फिराक जायजा लेने लगे कि इस काम में कितनी कमाई हो जाती है, बाल-बच्चों का गुजारा होता है कि नहीं. पुलिस कितना लेती है और कै बार पकड़े गए.

चोर आया था पिछवाड़े से लेकिन फिराक साहब ने उसे सामने के दरवाजे से रवाना किया यह कहते हुए, 'अब जान- पहचान हो गई है भई आते-जाते रहा करो.'

❐

संपर्क : pallavkidak@gmail.com

कहानी

राष्ट्रपति का दत्तक

•

कामेश्वर

जन्म : 19 जनवरी, 1961, (छ.ग.)
शिक्षा : एम.ए. (हिंदी)
कृतियां : छत्तीसगढ़ी में दो उपन्यास 'तुंहर जाय ले गींयां' एवं 'जुराव' तथा हिंदी में एक उपन्यास 'बिपत' एवं कहानी-संग्रह 'अच्छा, तो फिर ठीक है' प्रकाशित.
पत्र-पत्रिकाओं में कहानियां, कविताएं, आलेख, व्यंग्य, समालोचना आदि प्रकाशित
संप्रति : एसईसीएल, कुसमुण्डा क्षेत्र में वरिष्ठ अनुवादक

संपर्क : बी-134, आदर्श नगर, कुसमुण्डा, कोरबा-495454 (छत्तीसगढ़)
मो. : 8959193470
ई-मेल : rajkameshwar@gmail.com

बुटूराम पूछते-पाछते कलेक्टोरेट के गेट पर पहुंचा तो चेक पोस्ट की खिड़की से झांक रहा नगर सैनिक (होम गार्ड) बाहर निकल आया. उसके हाथों के तीर-कमान देख वह सतर्क हो गया, “कहां...?”

“मिलना है कलेट्टर साहेब से...” कद से ऊंची कमान को बाएं से दाएं हाथ में लेते हुए वह बोला. कनपटियों पर पसीने की धार. कांधे की लाठी को बाएं हाथ से पकड़े. इसके पिछले छोर पर प्लास्टिक वायर से बुना थैला लटक रहा था जो कभी आधा लाल और आधा सफेद रंग का रहा होगा. यह उसके हुलिए से मेल नहीं खाता था. बांह पर झूलता बदरंग जामुनी कुर्ते के नीचे मटमैला पटकू घुटनों से ऊपर बलिश्त भर दिख रहा था. कानों पर छितराए बाल और खिचड़ी मूछें. चालीस-पचास के पेटे से आगे निकलता हुआ.

“क्या काम है?” नगर सैनिक उसके कंधे पर तीर-कमान को देखकर सशंकित हो उठा था. ये आदिवासी लोग दिखते सीधे हैं. पर गुस्से में खतरनाक हो जाते हैं. तीर मार भी देते हैं. पेपर में खबरें छपती रहती हैं.

“डौकी (पत्नी) चोरी हो गई है.” उसने मुस्कराने की कोशिश की, पर वह सहमा हुआ था. गलत तो नहीं बोल गया! वह रपट लिखाने गया था तो लेमरू थाने के सिपाहियों ने उसका मजाक उड़ाया था, “बच्चे चोरी हो गए हैं कि डौकी?” उन्होंने पूछा था. वह इन खाकी वर्दीधारियों के लिए एक मजाक ही तो है. इसलिए काम निकालने के लिए वह पहले से अपना मजाक उड़ाने की उसने अपने हिसाब से चालाकी की.

“डौकी चोरी हो गई है.” नगर सैनिक ने उसे अचरज और खींझ से भरकर देखा. पगला तो नहीं गया है! भीतर टेबल पर काम कर रहा साथी उसकी ओर देखकर मुस्कराने लगा.

“सुन रहे हो?” नगर सेवक ने उससे कहा, “...इसकी डौकी चोरी हो गई है.” फिर वह बुटूराम की ओर मुखातिब हुआ, “क्या बकते हो?...डौकी कोई सामान है जिसे कोई चुरा ले जाएगा?” नगर सैनिक ने उसकी हेंजवारी के लिए हड़काया.

“चुइया का रहने वाला मोहम्मद अजीज.वही ले गया है साहब.” वह सहमते हुए

बोला.

"तो थाने जाकर रपट लिखाओ! यहां क्यों चले आए?" नगर सैनिक ने डपटा तो वह निराश हो गया. चालीस किलोमीटर दूर अपने गांव कदमझरिया से पैदल चलकर वह आया था. घर से आधी रात को निकला था. जंगली जानवरों से रक्षा के लिए तीर-कमान उसने साथ रख लिया था. रास्ते में एक गहबर और उसके बाद कुछ कोलिहा (सियार) दिखे. अपने रास्ते चले गए. खरहे (खरगोश) तो कई दिखे. रास्ते को बिजली की तरह छंलागते. बुटूराम को जरा भी डर नहीं लगा. अंधेरे में आंखें और भी काबिल हो गई थीं. यहां के चकाचक उजाले में तो उसे कुछ सुझाई नहीं पड़ रहा है. उधर डर है, तो केवल दंतैलों का. आजकल खूब ताण्डव मचा रहे हैं. गांवों तक पहुंच रहे हैं. धान-पान को रौंदकर बर्बाद कर देते हैं. घरों को धक्का देकर ढहा देते हैं और सूंड से सूंघते हुए अनाज के बोरे-कुठले तक जा पहुंचते हैं. सामने कोई आदमी आ गया तो उसकी खैर नहीं. दौड़कर सूंड से पकड़ लेते हैं और पटक कर खूंद-खांद कर देते हैं. आदमी से इतना नाराज क्यों हो गया है हाथी! जंगल से गुजरते हुए बुटूराम ने सोचा था. पर उसे डर नहीं लगा. बस, वह चौकन्ना था. तीर-कमान उसके हाथ में थे. लेकिन शहर में आकर उसका चौकन्नापन गायब हो गया था, बल्कि वह अचकचा रहा था. उसे बिनती करना भी नहीं आता था.

"लिखाया था साहब!...लेमरू थाने में लिखाया था."

"फिर?"

"कुछ नहीं हुआ."

"तुम्हारी 'डौकी'..." नगर सैनिक ने मुस्कराया, "...तुम्हारे साथ रहने को तैयार है?"

"वह नहीं रहना चाहती, मत रहे..." वह हिम्मत करके बोला, "...जहां चाहती है, रहे...पर मेरे बच्चों को तो वापस कर दे."

"ठीक है!...तुम्हारे तीर-कमान और थैला इधर रखो." उसने कमरे के एक कोने की तरफ इशारा किया जहां डस्टबिन और दो डंडे रखे हुए थे. फिर अपने साथी से कहा, "लिख लो यार!...क्या नाम है तुम्हारा?"

"बुटूराम." उसने बताया.

"बुटूराम." उसने उचारा, फिर कहा, "कुछ अता-पता भी तो होगा."

वह अपना पता सोचने लगा. फिर बोला, "कदमझरिया!...गांव कदमझरिया."

"जाओ यार." उसने जाने की अनुमति दी और तीर-कमान पर नजरें गड़ाते हुए बड़बड़ाया, "कदमझरिया."

बुटूराम पूछते-पाछते सीढ़ियां चढ़कर कलेक्टर कक्ष के सामने पहुंच गया. सफेद वर्दी में लाल पट्टाधारी दरबान ने भंवें चमकाकर आने का मकसद पूछा.

"मिलना है कलट्टर साहेब से." उसने हाथ जोड़ा.

"वहां से स्लिप निकालो." दरबान ने दरवाजे के बगल में लटक रही पर्चियों की गड्डी की ओर इशारा किया, "अपना नाम-धाम लिखकर दो."

"मैं लिखना नहीं जानता साहब." उसने अपनी लाचारी जताई.

"ठीक है...इधर ला." दरबान ने स्लिप पर उसका नाम-पता लिखा और कहा, "सामने बेंच पर जाकर बैठ जाओ."

बुटूराम ने उधर निगाह डाली. दीवार से लगे स्टील के पुश्त वाले जालीदार बेंचों पर कई लोग बैठे थे. आदमी, औरत सब. बुर्के में बैठी एक औरत के बाद बेंच खाली था. वह उसी के एक सिरे पर बैठ गया और गमछे से चेहरे का पसीना पोंछने लगा. फिर उसने आंख बंद कर ली. उसे झपकी-सी आ गई. काफी थक गया था वह. वह झकना कर सजग हुआ. बीत ही गई होगी एक घड़ी. उसने देखा कि बेंच पर लोग जस के तस बैठे हुए हैं. मतलब, उनमें से किसी की बारी नहीं आई. दो-एक नए लोग भी दिख रहे हैं. कुरता-पैजामाधारी लोग सीधे दरवाजे से घुस जा रहे थे. लेकिन निकल नहीं रहे थे. एकाध आदमी ही निकलता दिखता था. उनको स्लिप नहीं लगता क्या? बड़े आदमी होंगे भई!

लेकिन उसे लौटना भी है. यहीं मुंधियार हो जाएगा तो पैदल चलकर वह भिन्सारे पहुंच पाएगा. यह सब उसे बिरसो के कारण भुगतना पड़ रहा है. जरा भी दया-मया नहीं है किसबिन के मन में! तीन-तीन बाल-बच्चों की महतारी. बड़ी लड़की की शादी भी हो गई है. नई-नवेली डौकी भी नहीं है. फिर भी उस पठान के साथ भाग गई. गलती खुद उसी की है. क्यों भला उसके साथ दारू पिया उसने? और फिर उसे खाना खिलाने घर भी ले आया? सड़क पर उसका ट्रक बिगड़ा हुआ था. वहीं सड़क पर पड़ा रहने देता. बेकार ही दया दिखाई. जिसका यह फल भोगना पड़ रहा है. समाज ने बिरसो को जात बाहर किया तो उसे बड़ा संतोष हुआ. अपने बेटों संतोष और मंतोष के साथ वह गिरस्ती को बनाने की कोशिश करता रहा. उसने बिरसो को लगभग भुला ही दिया था कि महीने भर पहले उसकी गैरहाजिरी में वह आई और बच्चों को साथ लेकर चली गई. वह उन्हें वापस लाने गया तो वह उल्टे लड़ने-झगड़ने लगी. क्या खिलाओगे इन्हें? पालने-पोसने की औकात है? मतलब, उसे मालूम हो गया था कि सरकारी राशन मिलना बंद हो गया है. कहां से यह आधार और जनधन खाते का झंझट आ गया. राशन कार्ड के साथ नंबर लिंक नहीं होने के कारण अब राशन मिल नहीं पा रहा है. फिर भी वह मरा नहीं है. अपने बच्चों को भी पाल-पोस लेता. आखिर पिछले पांच सालों में जब वे गेदा-गेदा थे तो किसने उन्हें पाला? गांव में बनी-भूती कर के, जंगल से सकेल-शिकार कर के वह उनको पाल सकता है. संतोष तो अब बड़ा भी हो गया है. उस बदमाश अजीज ने उसे काम पर लगा रखा है. उसने देखा. वह पानी में ट्यूब डुबोकर पंक्चर देख रहा था. उसे साथ लाने के लिए उसका हाथ पकड़ा तो अजीज ने धक्का मारकर भगा दिया. मन हुआ कि तीर से टुक दे. फिर चाहे जो हो! मरेगा किसी दिन उसके ही हाथों!

वह उठकर दरबान के पास गया और हाथ जोड़ा, "बहुत दूर से आया हूं साहब!

लौटना भी है..."

"देख नहीं रहे, भीतर कितने लोग बैठे हैं?" उसने विजीटर रूम की ओर इशारा किया, "कलेक्टर साहब जिसे बुलाते हैं वही जाता है."

अच्छा, तो लोग भीतर भी इंतजार कर रहे हैं. तभी बहुत कम आदमी निकल रहे हैं. वह निराश होकर वापस अपनी जगह पर आकर बैठ गया. जोरों की प्यास लगी थी. पर वह जा नहीं सकता था. कहीं वह पानी पीने गया और इधर उसकी बुलाहट हो गई तो! भूख भी लग रही थी. अब तो उसके पास महुआ लाटा भी नहीं बचा है. दाई ने एक पसर झोले में डाल दिया था. उसे रास्ते में चलते-चलते ही खा लिया था उसने. अब तो घर जाकर ही खाने को कुछ मिलेगा. एक बार कलट्टर साहेब से भेंट हो जाए. फरियाद करके ही वह जाएगा. वह बिरसो से अपने बच्चों को लेकर रहेगा. नहीं रहने देगा उसके पास.

कितना बड़ा धोखा किया है उसने उसके साथ. वह उसे जान नहीं सका. सरहुली पूजा में नाच के समय कुछ इस तरह नजर भर कर देखा रांड़ी ने कि वह मोहित हो गया. उस पर प्रेम, फिर दया भी आ गई. साल भर पहले मर गया था उसका मरद. जंगल में भालुओं ने मार डाला था उसे. सरहुली पूजा के दिन उन्होंने हंड़िया पीकर खूब नाचा था. जदूरा नाच. वह उसका हाथ पकड़ कर अपने घर ले आया था. दाई ने भी मना नहीं किया. वे साथ रहने लगे. फिर उन्होंने ढुकू बिहाव कर लिया था. वह तो उसे पाकर निहाल हो गया था. सोचता था, उसके जैसे अड़हा (कमसमझ) आदमी को होशियार घरवाली मिल गई है. आठवीं तक पढ़ी थी वह वनवासी कल्याण आश्रम के स्कूल में. वह तो अनपढ़ ही रह गया. सोचा था, बिरसो उसके घर को संभालेगी. बाल-बच्चों को पढ़ाएगी. आस-पास के गांव के लड़के पढ़-लिखकर गुरुजी और सिपाही बनने लगे हैं. उसके बच्चे भी कुछ बन जाते. घर में दाना-पानी की कमी वह न होने देता. खांड़ी भर का खेत है. दुकाल न पड़ने पर चार महीने खाने के लिए धान हो ही जाता है. मुर्गियां और बकरे पाल ही रहा था. जंगल से कंद-मूल, तेंदू पत्ते, बीज, लाख, गोंद सकेल लाता था. भूखों नहीं मरने देता उन्हें. पर उसे तो चटक-मटक का चस्का लग गया था. कितनों भी रुपिए हाथ में धराओ, पूरा ही नहीं पड़ता था. हमेशा पैसा मांगती थी. घर के धान-पान बेच देती थी. अपने और बच्चों के लिए कपड़े, खजेना, खिलौने लेती ही रहती थी. कभी मना किया उसने? लेकिन उस नकटी ने उसके मुकाबले उस बदमाश अजीज को मरद समझा. यह बात रह-रहकर उसे सालती है. बिरसो से धोखा खाकर उसका मन फट गया है. अब वह जहां भी मरे उसे कोई मतलब नहीं. बस, उसके बच्चों को वापस कर दे.

"वही तो बिरसो को भगाकर ले गया है साहब! भाग गई तो अब वह मेरे लिए मर गई. अब उससे मुझे कोई मतलब नहीं. हमारे समाज ने उसका निकाल-बाहर कर दिया है. अब वह जहां चाहे, जैसा चाहे, रहे. लेकिन मेरे बच्चों को वापस कर दे." उसकी सांस भर आई. प्यास फिर लग आई थी.

"मेहरुन्निशा...सौखीदास...बुटूराम." दरबान ने हांक लगाई, "चलो सब एक साथ आ जाओ!...निकलना है साहेब को..."

बेंच पर बैठे लोग हड़बड़ा कर उठे. वह भी खुद को समेटता हुआ उनके पीछे लपका.

"ठहरो-ठहरो...पहले निकलने दो इन्हें."

वे ठिठककर दरवाजे के एक ओर हो गए. अंदर से कलफ लगे झक्क सफेद कुरते-पाजामे में नेताजी और उनके शागिर्द कहकहाते निकल रहे थे.

"अच्छा, जाओ तुम लोग." दरबान ने उन्हें भीतर जाने की अनुमति दी.

अन्य लोगों के साथ वह भी अंदर घुसा. आगंतुक कक्ष में सोफों पर दो-चार लोग बैठे हुए थे. उसे पार कर वह कलेक्टर के कक्ष में पहुंचा. सामने टेबल के उस पार एक महिला को बैठे देखा. उसे खयाल आया, कहीं यह वही महिला कलेट्टर तो नहीं, जिसने कुछ दिनों पहले उनके गांव तरफ दौरा किया था. उसने खुद तो उसे देखा नहीं था, पर गांव वालों ने बताया था. इस बार महिला कलट्टर आई है. बड़ी भली साहेब है भाई! कई लोगों को राशन मिलना बंद हो गया था. राशन कार्ड के साथ आधार नंबर और बैंक एकाउंट नंबर नहीं जुड़ने के कारण. कलेट्टर ने वहीं अपने अफसरों को हिदायत दी. और अब उन्हें राशन मिलने लगा है. गुरुजी लोग भी अब रोज स्कूल आते हैं. स्कूलों में मध्याह्न भोजन ठीक से मिलने लगा है. वनोपज के अच्छे दाम के लिए सहकारी समिति बनाई जा रही है. यह कलेट्टर गरीबों की सुध लेती है.

महिला कलेट्टर को देखकर उसकी हिम्मत बंधी. उसके साथ जरूर न्याय करेगी. वह धीरज रखते हुए बाकी फरियादियों के पीछे खड़ा हो गया. पहले ये लोग निपट लें, फिर वह इत्मीनान के साथ अपनी बात कहेगा. अब तक तो हाकिम लोग उसका मजाक ही उड़ाते आए हैं. लेमरू थाने में रपट दर्ज कराने गया था तो सिपाही उसका मजाक बना रहे थे. डौकी भाग गई! उठता नहीं क्या रे? उसे बहुत गुस्सा आया. लेकिन वह कर ही क्या सकता था? हवालात में बंद कर पीट-पाट देते तो वह क्या कर लेता? लेकिन ये साहेब लगता है उसकी सुनेगी.

सामने के फरियादी हट गए तो कलेक्टर साहिबा की नजर उस पर पड़ी और उन्होंने आंखों से ही पूछा.

"पांच साल हुए साहब." उसके हाथ जुड़ गए, "...मेरी डौकी भाग गई थी! अब वह मेरे बच्चों को भी चुरा ले गई है..."

"डौकी भाग गई है...बच्चे चुरा ले गई है." कलेक्टर साहिबा को कुछ समझ में नहीं आया.

"डौकी...मेरी घरवाली साहेब!...पांच साल पहले भाग गई थी...अब बच्चों को भी चुराकर ले गई है."

"बच्चे चुरा ले गई है?" कलेक्टर साहिबा को उसका आरोप अनुचित लगा. मां बच्चों को साथ ले गई होगी. उसी को चुराना कह

रहा है यह! "तो थाने में रपट लिखानी थी न!...यह तो कोर्ट का मामला बनता है."

"गया था साहब." बुटूराम ने अधीर होकर कहा, "...लेमरू थाने में गया था... कुछ नहीं हुआ..."

"बच्चे मां के पास रहना चाहते होंगे तब?"

"बच्चे नहीं चाहते साहब."

"क्या नहीं चाहते?"

"मां के साथ रहना नहीं चाहते." बुटूराम ने कह तो दिया. लेकिन सोचने पर मजबूर हो गया. इसके पहले बच्चों के पराए होने के बारे में कभी सोचा भी नहीं था. बच्चों पर स्वाभाविक रूप से अपना हक मानता था. वह बाप है, और पिछले पांच साल तो अकेले उसी ने उन्हें पाल-पोसकर बड़ा किया है. जब वे गेदा-गेदा थे तब तो वह छोड़कर भाग गई थी. कितनी सांसतों से उसने उन्हें पाला-पोसा था. अब बड़े हो गए तो अपना हक जताने लगी.

"लेमरू थाना." कलेक्टर साहिबा को कुछ याद आ गया, "...कोरवा हो कि बिरहोर?"

"कोरवा हूं साहेब." उसे ढाढस बंधा. कलेट्टर साहेब उन्हें जानती हैं. घूमती हैं न उनके गांवों तरफ. प्यास के मारे सूख रहे होंठों पर जबान फेरते हुए उसने मुस्कराने की कोशिश की, "आप तो आई थीं उधर."

"तुम समेली भाठा के हो?" कलेक्टर साहिबा को चेहरा कुछ पहचाना-सा लगा. उस दिन वहां चौपाल में देखा हुआ-सा चेहरा. सारे आदिवासी लगभग एक जैसे ही तो दिखते हैं. कोरवा, बिरहोर, पाण्डो लोगों में ज्यादा फर्क नजर नहीं आता. ज्यादा संपर्क न होने के कारण ऐसा होता होगा. जैसे सब बंदर, सभी पशु-पक्षी एक जैसे लगते हैं. पर ये तो राष्ट्रपति के दत्तक हैं. इनका एक व्यक्ति के रूप में पहचान में न आ पाना भी विडंबना ही है. इनकी जातियों को लुप्तप्राय देखकर ही राष्ट्रपति से इन्हें गोद लिवाया गया था. गोद लेने वाले उस पिता को इन्होंने कभी देखा नहीं होगा. राष्ट्रपति को भला क्या मालूम कि उनके कितने दत्तक हैं, और किस हाल में हैं. हाल-चाल लेना तो प्रशासन का काम है. इसलिए कलेक्टर साहिबा उधर का दौरा कर ही लेती हैं. और अभी तो उन्हें उधर बार-बार दौरा करना पड़ रहा है. सरकार ने लेमरू को हाथी अभ्यारण्य क्षेत्र घोषित कर दिया है. इन दत्तकों को वहां से हटाना बड़ा मुश्किल काम हो गया है. उन्हें मालूम है, कुछ साल पहले जनसुविधाओं और रोजगार से जोड़ने के लिए इन आदिवासियों को मानगुरु पहाड़ियों से उसालकर नीचे जंगल में बसाया गया था. कुछ परिवार को यह जमा नहीं तो वे फिर पहाड़ियों पर रहने चले गए. बाकी लोगों ने खेती-पाती करना शुरू कर दिया था. अब वे जमने लगे थे तो अभ्यारण्य के कारण उन्हें वहां से उसाला जान जरूरी है. हाथी अब शहर से लगे गांवों तक पहुंचने लगे हैं. हाथियों द्वारा लोगों को मारे जाने की खबरें लगातार छपती रहती हैं. सबसे ज्यादा शिकार तो जंगल के आसपास रहने वाले ये आदिवासी ही होते हैं. इसलिए उनको हटाया जाना जरूरी है.

अभ्यारण्य! कलेक्टर साहिबा के चेहरे पर टेढ़ी मुस्कान झलक उठी. क्या हाथी अपने अभ्यारण्य की सीमाओं को जानेंगे और मानेंगे? या ऐसा परकोटा खड़ा किया जाएगा जिसे हाथी तोड़ न सके? अभ्यारण्य में पर्याप्त चारा-पानी रहने की क्या गारण्टी है? सब जानते हैं, हाथियों के आबादी क्षेत्र में घुसने का मूल कारण है जंगलों को खनन क्षेत्र के हवाले कर हाथियों के रहवास को खत्म कर देना. लेकिन उस तरफ सोचना कलेक्टर साहिबा का काम नहीं है. उनका काम है सरकारी आदेश का पालन करना. योजनाओं को कार्यान्वित करना. प्रगति और विकास के लक्ष्यों को पूरा कर अपनी कॅरियर को चमकाना. अब यह प्रगति और विकास जिधर ले जाए उधर ही जाना है. इसीलिए वे अपनी कोशिश में कमी नहीं करतीं. उन्हें वहां से उसलने के मनाने बार-बार दौरा करती हैं. उनके दौरे से शासन की कल्याणकारी योजनाओं के लाभ से महरूम लोगों को कुछ फायदा भी हो जाता है. साथ गए अफसरों को तुरंत निर्देश देती हैं. इससे आदिवासियों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है. उन्होंने उन्हें कोसा रेलिंग का प्रशिक्षण दिलाकर रोजगार दिलाने और वनोपज की समिति द्वारा मार्केटिंग कराने का भरोसा दिया है. युवकों ने उत्सुकता दिखाई है. पर वह जानती हैं कि वनों से दूर कर देने पर न तो वनोपज तक उनकी पहुंच होगी और न कोसा रेलिंग का प्रशिक्षण ही कुछ काम आएगा. प्राकृतिक ककून वाले पेड़ तो अभ्यारण्य के अंदर आ जाएंगे. वनोपज इकट्ठा करने की अनुमति क्या उन्हें मिलेगी?

"नहीं, मैं पहाड़ खाल्हे कदमझरिया का हूं." उसने बताया

"तुम लोग समझते क्यों नहीं?" कलेक्टर साहिबा ने कुछ चिढ़े हुए अन्दाज में कहा, "...लगातार हाथियों के हमले हो रहे हैं. तुम्हारे अपने लोग मर रहे हैं. फिर भी चेत नहीं रहे."

बुटूराम सकपका गया. उसे समझ में नहीं आया कि उसके बच्चों के बजाय हाथी का मामला कहां से आ गया. कलेट्टर साहिबा कह तो ठीक रही हैं. उधर के गांवों में हाथियों द्वारा लोग अक्सर मारे जा रहे हैं. आते समय जंगल से गुजरते हुए वह भी डरा हुआ था. अंधेरा रहने तक तो वह ऐसे दबे पांव चला, मानों बिल्ली हो. कोई दंतैल उसके सामने आ जाता तो वह अपने तीर-कमान से उसका क्या कर लेता! समस्या तो है. लेकिन मैडम उसे क्या समझने के लिए कह रही हैं यह उसे समझ में नहीं आया.

"हम लोग सचेत हैं साहेब." उसने कहा, "...अब घर में मउहा नहीं उतारते. उसकी महक पाकर वह आता है."

"हाथी तो फिर भी आ रहे हैं." उन्होंने कहा, "...लोग मारे जा रहे हैं....तुम भी समझाना अपने गांवों के लोगों को. सबको बसाहट के लिए बढ़िया जगह दी जाएगी. वहां बेकार ही अपनी जान को सांसत में डाले हुए हो."

"हौ साहेब." बुटूराम को लगा कि यहां उसे हामी भरनी चाहिए. हां कहने में क्या

जाता है? गांव में उसकी सुनेगा कौन? उसकी हैसियत क्या है? बिरसो के भागने के बाद वह दर-दर की ठोकरें खा रहा है. साहेब कह रही है कहीं और बसा देंगे. पहाड़ से नीचे बसाया तो उसके डौकी-लइका का हरण हो गया. पहाड़ में रहते तो साले पठान से भेंट नहीं होती. सड़क किनारे घर होने से भेंट हो गई. उसका ट्रक बिगड़ गया था और उस पर दया कर वह उसे अपने घर ले आया था. हूम करते हाथ जल गया उसका.

कलेक्टर साहिबा ने एक स्लिप पर कुछ लिखा और बेल बजाई. चपरासी के आने पर उसे स्लिप देते हुए कहा, "इसे एस.पी. साहब के पास ले जाओ."

चपरासी उसे अपनी बाइक पर बैठाकर एस.पी. कार्यालय ले गया. बुटूराम का मन हुआ कि पहले कहीं रुककर पानी पी ले. पर चपरासी से कहने की हिम्मत नहीं हुई. प्यास के मारे उसका तालू सूखा जा रहा था. आंखों में रह-रह कर झांइयां छा रही थीं. वह डर रहा था कि बाइक से कहीं गिर न जाए. खैर, कलेक्टर साहेब की स्लिप और चपरासी द्वारा बाइक पर एस.पी. कार्यालय पहुंचाए जाने से उसे मदद की, अपने बच्चों के मिलने की एक नई आस जग गई थी.

एस.पी. कार्यालय में बाइक से उतरकर वह एकाध कदम चला कि लड़खड़ाकर बैठ गया. आधी रात से पैदल चलता हुआ वह आया था. रास्ते में थोड़ा बहुत महुलाटा खाया था. पर वह कितनी देर थामता? ऊपर से प्यास के मारे मुंह में चटका बर रहा था. आंखों में अंधेरा छाने के साथ ही महसूस किया कि चपरासी ने उसे कंधे को पकड़ कर संभाल लिया है. फिर उसकी चेतना डूब गई.

एक सिपाही उधर लपका, "क्या हो गया?"

"लगता है, बेहोश हो गया है." चपरासी ने कहा, "कलेक्टर साहेब ने इसे एस.पी. साहेब के पास भेजा है."

सिपाही भीतर से गिलास में पानी ले आया और उसके चेहरे पर छींटा मारा. बुटूराम की पलकें फड़फड़ाईं और होंठों पर जुबान फिरी. फिर उसने आंखें खोल दीं. सिपाही ने उसे गिलास का बचा पानी पिलाया. उसकी जान में जान आई.

"अब ठीक है?" सिपाही ने पूछा.

"ठीक है साहब." उसने कहा.

चपरासी ने उसे उठाया. उसे सहारा देकर एस.पी. कक्ष तक ले गया. स्लिप को एस.पी. साहेब के पास भिजवाया. सिपाही ने उन्हें कक्ष के अंदर आने का इशारा किया. बुटूराम लड़खड़ाता हुआ कक्ष में पहुंचा.

"पिए-उवे हो क्या?...ठीक से खड़ा हो." बुटूराम सहम गया. अपने आप को सचेत किया. खाकी वर्दी वालों से वैसे भी डर लगता है. लेमरू थाने वालों को देखकर तो वह कपस जाता है. उनकी नजर से जितनी दूर रहे उतना ही अच्छा! उन्होंने तो उसका मजाक उड़ाया था. उठता नहीं क्या रे? इस मजाक ने उसे बिल्कुल नाचीज बना दिया था. नाचीज का दर्द, गुस्सा एक मजाक ही तो है. वह कुछ कहता और वे हवालात में बंद कर उसकी कुटाई कर देते. उस दिन बच्चों पर दावे की अपनी हैसियत उसे कमजोर होती लगी थी. वह तो निराश होकर बैठ गया था. पिछले दिनों गांव की तरफ कलेक्टर का दौरा होने लगा. इधर के लोग कलेक्टर की जन-दर्शन में जाने लगे तो उसकी भी हिम्मत बंधी. उसने सोचा कि वह भी करेगा कलेक्टर से फरियाद. शायद उसके बच्चे मिल जाएं!

"अभी इसे चक्कर आ गया था सर." चपरासी ने उसकी हालत बताने की कोशिश की.

"कैसे?" एस.पी. ने अब उसे गौर से देखा. उसके चेहरे पर मुर्दनी छाई हुई थी. "खाना-वाना खाए हो कि नहीं?...बैठ जाओ." उसने सामने रखी कुर्सी की ओर इशारा किया.

"टेम ही नहीं मिला साहब." उसने कहा. मानों, टाइम मिलने पर उसके पास खाने की चीज या पैसे थे.

"टाइम नहीं मिला." एस.पी. चकराया, "ऐसा कौन-सा काम कर रहे थे कि खाने का भी टाइम नहीं मिला?"

"आधी रात को चला था साहब घर से..." उसने बताया, "कलेक्टर ऑफिस पहुंचते ग्यारह बज गए."

"कहां है तुम्हारा घर?"

"कदमझरिया...लेमरू थाना..."

"पैदल चलकर आए हो?"

"हौ साहब."

"बस से क्यों नहीं आए?" एस.पी. ने उसे अचरज से देखते हुए पूछा.

"टिकस के लिए पैसे नहीं थे साहब."

एस.पी. को उस पर दया आ गई. बड़ी तकलीफ उठाकर पहुंचा है यह तो! राष्ट्रपति के दत्तक को एस.पी. भी जानता है. बस, पहचानता कोई नहीं. इसके बच्चों को मां ले गई है. यह उन्हें पाना चाहता है. कलेक्टर मैडम ने स्लिप में लिखा है, प्लीज डू द नीडफुल. फोन पर भी तो बोल सकती थीं! और बच्चे मां के पास हैं तो वह क्या कर सकता है? वे किसके पास रहेंगे इसका फैसला तो अदालत ही कर सकती है. हाथी अभ्यारण्य क्षेत्र में रहता है यह. इन्हें वहां से हटाना है. मतलब, विस्थापित करना है. लेकिन बुटूराम को तो कुछ सांत्वना देना होगा. मौके पर ये लोग काम आएंगे.

"बच्चे मां के पास रहना चाहते होंगे तब." एस.पी. ने पूछा, "...मिले थे उनसे?"

"गया था साहब उन्हें लेने..." उसने बताया, "अजीज ने उन्हें आने नहीं दिया."

"यह अजीज कौन है?"

"वही तो बिरसो को भगाकर ले गया है साहब! भाग गई तो अब वह मेरे लिए मर गई. अब उससे मुझे कोई मतलब नहीं. हमारे समाज ने उसका निकाल-बाहर कर दिया है. अब वह जहां चाहे, जैसा चाहे, रहे. लेकिन मेरे बच्चों को वापस कर दे." उसकी सांस भर आई. प्यास फिर लग आई थी. खाली पेट खूब पानी मांगता है. "...जब बच्चे गेदा-गेदा थे तो उन्हें छोड़कर भाग गई थी निर्दयी! उनके डेने जम गए तो अब अपना हक जता रही है..." उसने दिल से फरियाद की. एस.पी. साहब उसे थानेदार जैसा खुर्राट नहीं लगा. अभी लइका उमर ही

था. आदमी जैसा लग रहा था. जरूर उसकी सुनेगा.

एस.पी. को सच में उस पर दया आ गई थी. घरवाली और बच्चे दोनों छिन गए बेचारे के! सरकार इनके संरक्षण के लिए काम कर रही है. हालांकि, नतीजा निकलता दिखाई नहीं देता. समाज की मुख्यधारा में कदम रखते ही ये गायब होने लगते हैं. उनकी लड़कियां भगाकर महानगरों के देह-व्यापार में खपाई जाती हैं. भाषा और संस्कृति विलुप्ति के कगार पर हैं. होशियार और चालाक लोग इन्हें लूट लेते हैं. किसी अजीज ने इसकी पत्नी और बेटे लूट लिए. एस.पी. चाहकर भी उसके लिए ज्यादा-कुछ कर नहीं सकता. उसने कहा, "देखो, अब यह कोर्ट-कचहरी का मामला बन गया है. वे बच्चे वापस देना नहीं चाहते. और तुम छिन कर ला भी नहीं सकते. अब कोर्ट ही फैसला कर सकता है. उसके आदेश के बिना हम कुछ नहीं कर सकते. मुकदमा लड़ना आसान काम नहीं है. सोच लो अच्छी तरह से. हो सकता है, बच्चे समझदार हो जाने पर खुद ही तुम्हारे पास आ जाएं."

एस.पी. ने उसकी जगह पर अपने आप को रखकर देखा. हर लिहाज से दुखी जीव, जिसके बीवी-बच्चे भाग गए हों. भग्न-हृदय, बेचैन आत्मा. सक्षम आदमी की बीवी नहीं भागती. ऐसा बिपत कमजोरों पर ही आता है. उसका स्वर मुलायम हो गया, "मैं आता हूं उधर एक दिन...देखता हूं." फिर अपने सहायक से कहा, "नोट कर लो इसका नाम-गाम." उसने अपनी जेब से सौ रुपए का नोट निकाला और बुटूराम की ओर बढ़ाते हुए कहा, "इसे रख लो!...बस से जाना...और अपने गांव के लोगों को समझाना. क्या रखा है जंगल में? तकलीफ के सिवा?" एस.पी. ने मानों, अपने सिद्धांतों के आड़े आ रहे फर्ज को अदा किया. फिर चपरासी से कहा, "इसे दाल-भात सेंटर में खाना खिलाकर छोड़ देना."

एस.पी. साहब के व्यवहार से बुटूराम के बुझे हुए मन की बत्ती कुछ जली. यह साहब कम से कम उसे आदमी तो समझता है. उसके भूख-प्यास का खयाल करता है. बच्चों के बारे में उसे भी संदेह है कि वे उसके साथ रहना चाहते होंगे. आखिर वह जंगल में उन्हें दे भी क्या पाता है. संतोष अजीज के पंक्चर दुकान पर नांद के पास टायर लिए खड़ा था. चार पैसा कमा रहा है तो खर्चा-पानी मिलता होगा. अच्छा खाता-पीता होगा. मेरे साथ क्यों आना चाहेंगे! क्योंकि वह उनका बाप है. कोई बिजूका नहीं. साहब ने उसे बाप समझा है. उसके दुख को समझा है. इस बात से उसे ढांढस बंधा. आंसू छलछला आए. कृतज्ञ हाथ अपने-आप जुड़ गए.

दाल-भात सेंटर में खाना खिलाने के बाद सिपाही ने उसे कलेक्टोरेट के गेट पर छोड़ दिया. वह सिक्योरिटी पोस्ट की तरफ आने लगा. नगर सेवक ने उसे संदिग्ध नजरों से देखा. फिर उसे याद आ गया. यह वही व्यक्ति है जिसकी 'डौकी' चोरी हो गई है. उसने मुस्कराते हुए उससे पूछा, "क्या हुआ...मिले कलेक्टर साहिबा से?"

"मिला हूं साहब! कप्तान साहब से भी मिला." वह उसके लहजे को देखकर उससे बतियाना नहीं चाहता था . वह कमरे के कोने में रखे अपने थैले और तीर-कमान को उठाने लगा.

"क्या हुआ?"

"आऊंगा उधर बोले हैं कप्तान साहब." बुटूराम को भरोसा हो गया था कि कप्तान साहब उधर आएंगे. बच्चों के वापस मिलने का भरोसा भले नहीं कर पा रहा था लेकिन कप्तान साहब आदमी उसे अच्छे लगे. शुरू में घुड़का जरूर था. पर उसकी हालत देखकर तरस खा गए. बस के टिकट के लिए पैसे दिए. खाना भी खिलाने को कहा. गांव वालों को समझाने के लिए कहा है. कलेट्टर साहेब ने भी कहा है. वह कोशिश करेगा. वैसे उसकी सुनता कौन है? गांव में उसकी हैसियत ही क्या है? बिरसो के भागने के बाद तो वह कुकुर जैसा बन गया है. मुखिया को उसने कहा था कि उसे समाज बाहिर न करे. वह उसे ले आएगा. वह नहीं माना. पर अब वह अकेले ही कलट्टर-कप्तान से मिलकर जा रहा है. कप्तान साहब आएंगे बोले हैं. उनके आने से थोड़ी-बहुत तो उसकी धाक जमेगी. वह जरूर कोशिश करेगा. हाथियों का डर दिन-रात बना रहता है. उनके लोग मरते ही रहते हैं. पिछले महीने मुखिया के भाई को ही पटक मारा था दंतैल ने. तेंदू तोड़ने गए थे वे लोग. एक भाई किसी तरह से बचकर आ गया था. प्लास्टर चढ़ा हुआ है उसके हाथ में. गांव छोड़ देने में ही भलाई है. सरकार किसी जगह-पर बसाएगी तो रोजी-रोटी की भी व्यवस्था हो ही जाएगी. क्या पता, बिरसो उसकी हालत को बेहतर देख फिर वापस आ जाए. साहब लोग समझाएं तो शायद, समझ भी जाए. गांव वालों को समझाने की कोशिश तो वह जरूर करेगा.

"इसे छोड़ जाओ." नगर सेवक ने तीर-कमान की तरफ इशारा किया. उसने सोच लिया था कि तीर-कमान को वह रखेगा. उन्हें अपने घर की बैठक में सजाएगा. सामने की दीवार पर. जहां बारहसिंगा का सिर टंगा हुआ है. "...शहर में हथियार लेकर चलना मना है...मालूम है?"

"लेकिन यह तो तीर-कमान है साहब! जंगल में जानवरों से रक्षा के लिए रखते हैं." उसने कहा.

"लेकिन यह शहर है. कोई सिपाही देख लेगा तो हवालात में बंद कर देगा. बेहतर है कि इसे यहीं छोड़ जाओ. घर में तो तुम्हारे पास और भी होंगे. नहीं तो बना लेना."

बुटूराम को समझ में आ गया कि तीर-कमान पर इसका जी लग गया है, "रखना है तो ऐसा बोलो न साहब! डराते क्यों हो?"

नगर सेवक ने बेशर्मी से मुस्कराते हुए उसके कंधे से कमान खींच लिया. बुटूराम ने हाथ में धरे हुए तीर को बेमन से खुद ही उसके हवाले कर दिया और सुटुर-सुटुर बाहर निकल गया. उसे रंज हो रहा था. रखना ही था तो ठीक से मांगता. डरा रहा था साला!

❐

कहानी

मुर्दा लोगों के बीच

•

सैली बलजीत

जन्म : 7 जनवरी 1949
कृतियां : कहानी संग्रह : अपनी-अपनी दिशाएं, गीली मिट्टी के खिलौने, तमाशा हुआ था, अब वहां सन्नाटा उगता है, बापू बहुत उदास है, यंत्र-पुरुष, समंदर में उतरी लड़की, मुखौटों वाला आदमी, घरौंदे से दूर, अंधा घोड़ा, वह आदमी नहीं था, यह नाटक नहीं था, टपपरवास, घोड़े अब हांफ रहे हैं, तुम यहां खुश हो ना...चन्द्रमोहन, पंजाब की श्रेष्ठ लोककथाएं, नंगी ईंटों वाला मकान, यह मुक्ति पथ नहीं, चर्चित कहानियां, उपन्यास मकड़जाल.

संपर्क : लेन-4, रामशरणम् कॉलोनी, डलहौजी रोड, पठानकोट (पंजाब) 145001
मो. : 6280683663
ईमेल : sailibaljit@gmail.com

वह चलते-चलते हांफ गई थी.

उसने कांगड़ा वाली रेलवे लाइन क्रॉस करते ही इधर-उधर ताका था.

उसे यह भी नहीं पता था कि यह कौन-सी जगह है. लाइन पार करते ही उसे रामशरणम् की भव्य इमारत दिखी तो उसे इत्मीनान हुआ था. थोड़ी दूर आगे चलने पर उसे लगा था कि यह सिलसिलेवार बनी कोठियों वाली कोई कॉलोनी होगी. शाम का वक्त हो गया था. उसे पांवों में पी.टी. शू पहने हुए दो थुलथुल औरतों को शाम की सैर करते हुए देखा था.

उसकी डेढ़-दो साल की बच्ची गोदी में ही सो गई थी.

वह उसी तरह उसे गोदी में सुलाए हुए आगे निकल आई थी.

वह थोड़ी आगे आई तो उसे कॉलोनी में खाली जमीन के टुकड़े में बनी तीन-चार झुग्गियों के आगे काले-कलूटे बच्चे साइकिल के पुराने पहिए को ठेलते हुए दिखे थे.

उसे प्यास भी लग आई थी.

वह दोपहर को घर से निकली थी. कठुआ से पठानकोट वाली बस में चढ़ते ही उसने इत्मीनान की सांस ली थी. उसके सामने फिलहाल कोई भी विकल्प नहीं बचा था कि उसको कहां पहुंचना है.

वह उस कॉलोनी की एक नुक्कड़ से दूसरी नुक्कड़ तक चलते हुए हांफ गई थी. उसने अपनी गोदी से सटी रोती हुई बच्ची को चुप कराने की भरसक कोशिश की थी. बच्ची को शायद भूख लग आई थी.

उसने वहीं किसी चितकोबरे दरख्त की छांव तले बैठने को तरजीह दी थी.

अपनी छाती से चुनरी को एक तरफ हटाकर कमीज को ऊपर तक खिसकाते ही बच्ची को दूध पिलाने लगी थी वह. बच्ची लगभग चुप हो गई थी.

पिछले दो घंटे से अपने कंधे पर भारी-भरकम बैग उठाए हुए वह थक गई थी. उसके कंधे दुखने लगे थे. उसने वहीं चितकोबरे दरख्त की छांव में सुस्ताना चाहा था. उसने सूरज की ओर ताकते हुए समय का अंदाजा लगाया था. अभी सूरज डूबने में समय था. धूप की तपिश अभी बरकरार थी.

वह सुस्ताकर उठी तो लगभग अंधेरा घिर आया था.

उसने राहत की सांस ली थी.

म्युनिसपेलेटी की पानी की टोंटी से उसने खाली हो गई बोतल को पानी से भर लिया था. उसने सोचा कि इतनी बड़ी कॉलोनी में इतने लोग रहते हैं. चाय के लिए वह किसी से भी गुहार लगा सकती है. फिर चाय पिलाने वाले दानी लोग भी तो रहते होंगे यहां.

वह उठ खड़ी हुई थी. उसने बैग को कंधे पर झुला लिया था.

गोदी में रोती-कुरलाती हुई बच्ची को उसने गोद में उठा लिया था.

उसने देखा था, कॉलोनी की स्ट्रीट लाइट की बत्तियां दूधिया रोशनी से दमक उठी थीं.

चार घंटे पहले टैम्पो वाले ने उसे इस कॉलोनी के बाहर उतार दिया था.

तब से वह लगातार इसी कॉलोनी की गलियों में घूम रही है.

लोगों में खुसर-फुसर होने लगी थी. वह कांप गई थी. उसने देखा था, दो-तीन औरतें उसके पास आ गई थीं.

"कुड़िए...कहां जाना है तूने...तुम्हें शाम से इधर घूमते हुए देख रही हैं, किसके घर जाना है...?" एक थुलथुल औरत उस पर रौब झाड़ने लगी थी.

"मैंने रामनगर जाना था..." वह बोली थी.

"पर यह तो रामनगर नहीं...पता है?"

"तो कौन-सा नगर है?"

"कुड़िए...यह रामशरणम् कॉलोनी है..."

"मैंने तो रामनगर का बोला था...टैम्पो वाले को..."

"तुम्हें गलत जगह पर उतार दिया है...वो तो बहुत पीछे छूट गया है."

"चलो छोड़ो भैणजी...मुझे चातो पिला दो..."

"इस वक्त चा कहां से पिलाएं तुम्हें...?"

"पुन्न का काम है भैण जी..."

"सब्बी ऐसे ई कहती हैं...तुम इधर आई ही किसलिए?"

"कहा ना...कोई 'चा' नईं...उठाओ अपना बैग...और...डलहौज़ी रोड से राम नगर वाला टैम्पो पकड़ो..."

" 'चा' पिला दो ना?"

वे औरतें खुसर-फुसर करने लगी थीं.

इतने में वहां लगभग दस-बारह औरतें और आ गई थीं. हाथ उछालते हुए वे तपाकने लगी थीं.

एक औरत बोली, "लगता है...इसने कहीं नहीं जाना...ड्रामा कर रई है यह..."

"मुझे भी यह औरत गलत लग रई है..."

"चलो मैं पूछती हूं इसे..."

"तुम्हें लगता नहीं यह औरत कुछ बताएगी अपने बारे में."

"बताएगी...जरूर बताएगी...थोड़ा सख्ती से पूछते हैं..."

"मुझे तो तरस भी आ रहा है...छोटी-सी बच्ची को भी साथ लिए घूम रही है..."

वह चुपचाप उन औरतों की बातें सुनती रही थी.

उसे ताज्जुब हुआ था.

वह कुछ नहीं बोली थी. उसे फिलहाल चाय की तलब हो रही थी. उसे एक कप चाय मिल जाती तो वह इत्मीनान की सांस ले.

उसने सोचा था कि ये औरतें उस पर शक कर रही हैं.

वह थोड़ी दूर आगे आई तो उसे एक मंदिर की घंटियां सुनाई देने लगी थीं. वह मंदिर में आ गई थी.

चुपचाप एक कोने में दुबके हुए, मंदिर में होने वाली आरती सुनती रही थी. आरती पूरी हो गई थी. सभी औरतें अपने घरों में चली गई थीं.

मंदिर के पुजारी ने पूछा था, "बीबी कौन हो तुम...?"

"देखा नईं...मैं एक औरत हूं..." वह बोली थी.

"पहले तो कब्बी नहीं देखा तुम्हें...?"

"आज ई आई हूं जी...अपने गांव में."

"किसके घर आई हुई हो...?"

"मुझे नईं पता..."

"क्या नईं पता बीबी...किसी के घर में तो तुम आई ही होगी?"

"नईं जी..."

"फिर यहां क्या कर रई थी...?"

"आरती सुन रई थी..."

"अब जाओ...बीबी..."

"कहां जाऊं...?"

"अपने घर..."

"मेरा घर यहां थोड़े है..."

"फिर कहां है तुम्हारा घर...?"

"कठुआ के पास एक गांव है...वहीं रहती हूं..."

"यहां क्या लेने आई थी...?"

"अपने किसी रिश्तेदार के घर जाना था..."

"फिर गई क्यों नहीं...?"

"वे मिले ई नईं..."

"क्यों...?"

"वे यहां रहते ई नईं...?"

"कहां रहते हैं...तुम्हारे रिश्तेदार...?"

"रामनगर में..."

"बीबी...यह तो रामशरणम् कॉलोनी है..."

"मुझे क्या पता...?"

"तुम भूल गई हो...अब कहां जाओगी?"

" 'चा' पीने आई थी यहां मंदिर में 'चा' तो पिला दो...पंडित जी...मंदिरों में तो सुना है...हर वक्त 'चा'-पानी का परबंध रहता है..."

"'चा' भी पिला देते हैं...बीबी...तुम बैठो यहां..."

"मैं तो बैठी हूं...अब कहां जाऊंगी?"

"रात को रुकने का परबंध नहीं है यहां..."

तभी उसने देखा था, वही औरतें मंदिर की तरफ आ गई थीं.

अब उनके साथ कई मर्द भी थे.

उसने ऐसा क्या कसूर कर दिया था जो सभी उसे ढूंढते हुए यहां आ गए थे. वह

मंदिर के संगेमरमरी फर्श पर उकड़ू बैठी हुई सब देखने लगी थी.

एक औरत बोली थी, "यह रही वो औरत..."

दूसरी औरत ने कहा, "यही है...अब पूछते हैं इसे आदमियों की तरह."

"पूछना क्या है...मुझे तो यह कोई जासूस लगती है...ऐसी औरतें, ऐसे ही ड्रामें करती हैं..."

"मुझे भी इसका लहजा ठीक नईं लगा था...पता है...कब्बी कुछ, कब्बी कुछ कहती है...इसे सख़्ती से पूछना पड़ेगा..."

"क्या पता, बैग में कोई बम ही ना उठा लाई हो..."

"जाने क्या-क्या रखती हैं...ऐसी औरतें अपने पास...?"

"तो देखती क्या हो...पूछकर देखती क्यों नईं...?"

उसने देखा था, मंदिर में अच्छी-खासी भीड़ जमा हो गई थी. मंदिर का पुजारी भी मुंह लटकाए खड़ा था. कितने जनों ने उसे घेर रखा था. उसने ऐसा क्या गुनाह कर दिया था. वह पसीने से तरबतर हो गई थी.

"बोल...कौन हो तुम...?" इस बार एक तगड़ा-सा आदमी बोला था.

वह बुदबुदाई थी..." मैं भी तुम्हारी ही तरह हूं...अपने गांव से आई थी..."

"क्या लेने आई थी...?"

"अपने किसी रिश्तेदार के पास जाना था..."

"गई क्यों नहीं...?"

"रास्ता भूल गई थी...जी..."

"झूठ बोलती है...?"

"मैं सच्ची कैती हूं..."

"यहां मंदिर में क्या करने आई थी?"

"मंदिर में सब्बी लोग आते हैं...मैं भी आ गई..."

"बैग तो दिखा अपना...क्या रखा है इसमें...?"

"कपड़े-लत्ते हैं इसमें...और क्या होगा."

"फिर झूठ कैती हो तुम...मुझे पता है...तुम्हारे जैसी औरतें बैग में क्या रखती हैं..."

"बताओ तो..."

"तुम्हारे बैग की तलाशी होगी...तो पता चल जाएगा..."

"रहम करो...बाऊ...क्यों एक मजबूर औरत को तंग करता है...रब्ब से डर बाऊ...क्यों किसी बेबस औरत की बद्दुआएं लेता है..."

"क्या कहा...?...तू मुझे बद्दुआ देगी?"

"गरीब के सीने से बद्दुआ ही निकलती है...बाऊ..."

उसे उस मुछ्छल आदमी का चेहरा खूंखार लगा था.

उसे अब तकलीफ होने लगी थी.

एक औरत ने उस मुछ्छल आदमी को परे हटा दिया था. सच ही मर्दों के वहां होने से उस औरत की तफतीश सही ढंग से नहीं होने की आशंका से ही उस आदमी को वहां से हटा दिया था.

"भ्राजी...आप ज़रा हटिए...हम पूछती हैं इसे..." एक औरत बोली थी.

"चलो...मर्जी आपकी...?" वह आदमी पीछे हटते हुए बोला था.

"नईं भ्राजी...औरतों के सौ पर्दे होते हैं...आपके यहां होते हम उससे ऐसे सवाल नई पूछ सकतीं..."

"पर...मुझे लगता है नईं कि इससे कुछ संदेह वाली चीज बरामद हो..."

"कोशिश करके देखती हैं...पर अब आपने बीच में नहीं बोलना..."

"नहीं बोलेंगे भैणजी..."

"आप बाहर जाएं जरा...अब हमें देखना है, इससे कैसे निपटना है...कुछ ना कुछ तो सच्चाई होगी ही...वरना...ऐसी औरतों से लाख माथा भिड़ा लो...ड्रामें ही करती जाएंगी..."

भीड़ में न जाने किसने तुरंत पुलिस वालों को फोन कर दिया था.

"अब तो इसके ड्रामे का दी एंड हो जाएगा..." एक औरत ने हाथ उछालते हुए कहा था.

"पुलिस वालों के सामने तो यह सच्चाई उगलेगी ही..." दूसरी औरत ने कहा था.

"कितने घंटों से हम माथापच्ची कर रई हैं...स्साली गूंगों की तरह बैठी है...पुलिस वाले ही इससे उगलवाएंगे..."

"पता है...पुलिस वालों के आगे तो बड़ों-बड़ों के दम फूल जाते हैं"

"पुलिस आएगी...क्या...?"

"किसी ने फोन तो कर दिया है..."

"मैं तो कैती हूं...पुलिस से आने तक इसे एक बार फिर पूछकर देखते हैं...शायद कुछ बक दे..."

"बड़ी ढीठ है भैणजी...जाने किस मिट्टी की बनी है..."

"पुलिस को उड़ीकते हैं अब..."

मंदिर के बाहर आदमियों-औरतों की कौवा-रौली उसी अनुपात में मची रही थी. तरह-तरह के मशविरे दिए जा रहे थे. लोग पत्थर भी हो सकते हैं, उसने भीतरी मन से सोचा था. उसकी बच्ची बराबर रोने लगी थी. वह उसे चुप कराके हार गई थी. वह निस्संदेह भूख से बेहाल हो गई थी. उसने मन ही मन भीड़ को गालियां दी थीं, कमबख्तों को किस तरह समझाए कि इस वक्त उसे उनकी सहानुभूति की जरूरत है. सच ही क्या इंसानियत मर गई है...उसने भीड़ के नाम तौल-तौल कर गालियां निकाली थीं...मन ही मन में...वह भयभीत हो गई थी.

पुलिस वालों की गाड़ी सायरन बजाते हुए वहां आ धमकी थी.

चट से दो-तीन पुलिसकर्मी तथा एक महिला पुलिसकर्मी गाड़ी से मुस्तैदी से नीचे उतरे थे. सभी पुलिस की गाड़ी के इर्द-गिर्द जमा होने लगे थे.

एक पुलिस वाला बोला था, "कहां है वह औरत...? कुछ उगला उसने...?"

एक औरत बोली थी, "नई जी...हम तो पूरा जोर लगाकर हार गए हैं..."

"आप लोग हटिए...हम देखते हैं... कहां है वो...?"

"आइए जी...वो रही...वो बैठी है जी."

"आप अब कुछ नहीं बोलना, हम आ गए हैं...देखना कैसे उगलवाते हैं..."

पुलिस वाले मंदिर की सीढ़ियां फलांगते हुए भीतर आ गए थे.

वह उसी तरह उकड़ूं बैठी थी. उसकी बच्ची का रो-रोकर बुरा हाल हो चला था. पुलिस वालों ने पुजारी के आदेशानुसार अपने जूते वहीं सीढ़ियों के पास उतार दिए थे. अब वे अपने मिशन में जुट गए थे.

"बोल अब कुड़िए...क्या सोचा है?" एक पुलिसवाला डंडा हवा में लहराते हुए बोला था.

"कुछ नईं जी..."

"क्यों यह ड्रामा लगा रखा है...?"

"ड्रामा तो इन औरतों ने लगा रखा है जी..."

"क्या कहती हैं ये औरतें...?"

"कहती हैं...मैं जासूस हूं..."

"तो और कौन हो...?"

"मैं अपने गांव से आई हूं..."

"कहां है तुम्हारा गांव...?"

"कठुआ के पास ही है जी...किसी से भी पूछ लो..."

"हम तुमसे पूछ रए हैं...कुड़िए..."

"क्या पूछना है...पूछिए..."

"बोल...तो...इस बैग में क्या है...?"

"मेरे कपड़े लत्ते हैं...और क्या होगा गरीब के बैग में...?"

"खोलकर दिखाओ..."

"रहने दो जी...क्यों जुल्म करते हैं?"

"कंजरखेड तो तुमने डाली हुई है...हम तो तफतीश करके रहेंगे...खोल अपना बैग...नहीं तो हमें खोलना आता है..."

"कहा ना...इसमें क्या होगा..."

"फिर दिखाती क्यों नहीं...?"

"देख लो...मैंने कब इनकार किया है."

"दिखा तो..." इतना कहते ही वह पुलिसवाला उसके बैग पर झपटा था. उसने बैग की जिप खोल दी थी. जिप खोलते ही उसने बैग में से एक-एक करके जमीन के संगेमरमरी फर्श पर कपड़ों का ढेर लगा दिया था. एक साथ उसकी सलवारें, कमीजें, एक जोड़ी ब्रा, कंघी, लिपस्टिक, जूड़े पर लगाने वाले क्लिप, कुछ कागज, एक टूटा हुआ शीशा, छोटा-सा मोबाइल, कुछ दवाइयों की शीशियां, कुछ दवाइयों के पत्ते, एक पानी वाली बोतल, एक स्टील का गिलास, एक कटोरी...और...छुट-पुट घरेलू सामान बिखर गया था इधर-उधर...

सभी औरतें मुंह बाए देखती रही थीं.

"अब देख लिया तुम लोगों ने...? चैन आ गया...?" वह फफकने लगी थी.

"कुछ भी नहीं निकला इसमें...?" पुलिस वाला बोला था.

"और भी देख लो...क्या देखना है... औरत की इज्ज़त उछाल दी ना...?"

"अब्बी कहां उछली है तेरी इज्जत?"

"तो अब क्या मुझे नंगी करोगे...?"

"बिलकुल करेंगे...क्या पता...कुछ छुपा रखा है तूने...कपड़ों के अंदर...?"

"रहम करो...रब्ब से डरो..."

"हमें अपनी तफतीश तो करनी है ना कुड़िए..."

"क्या करोगे...?"

"तुम्हारी अभी जामा तलाशी करनी है..."

"तुम कैसे कर सकते हो...? अब क्या देखना है...?"

"तुम चुप रहो...समझी...? चपर-चपर ई करती जा रई है..."

"तुम मेरी तलाशी नईं ले सकते..."

"ले सकते हैं..."

"मर्द होकर मेरी तलाशी करोगे...?"

"नईं...लेडी पुलिस है हमारे साथ, इसीलिए तो लाए हैं साथ..."

"अब यह ड्रामा भी करके देख लो... कमबख़्तो..."

"तुम्हारे ड्रामे का दी एंड करने आए हैं...समझी...?"

"लो कर लो...जो करना है..." वह छाती पर दुहत्थड़ें मारने लगी थी. उसे लगा था, उसका भगवान बहरा हो गया है. उसे पूरी दुनिया बहरी हुई दिखी थी. उसे जमीन घूमती-सी प्रतीत हुई थी.

तभी एक थुलथुल खाकी पेंट और कमीज में कूल्हे मटकाती हुई महिला पुलिस वाली अपनी ओर आती हुई दिखी थी. उसने मंदिर के पुजारी से पूछा था.

"पंडित जी...मंदिर के पीछे कोई कमरा है...?"

"जी हां...है जी...पर क्यों पूछ रई है?"

मंदिर का पुजारी बोला था.

"इसकी तलाशी...क्या सभी के सामने लें...इसके कपड़े उतरवाने हैं पंडित जी, तुम बताओ...कहां है कमरा...?"

"मंदिर में यह पाप तो मत करिए..."

"यह हमारी ड्यूटी है...पाप-वाप हम नहीं जानते...समझे...?"

"मैं यह पाप यहां नहीं होने दूंगा... भगवान के दर पर ऐसा पाप मत करो...भैण जी...हाथ जोड़ता हूं जी..."

"कहा ना...हमें अपना काम करने दें...हटिए...पीछे..."

"ऐसा मैं इस मंदिर में नहीं होने दूंगा."

"कहा न पंडित...हमें अपना काम करने दो..."

"मेरे होते हुए तुम लोग ऐसा नहीं कर सकते...रब्ब से डरो...आख़िर...तुमने भी तो रब्ब को जान देनी है...इस बेबस औरत पर तरस खाओ..."

"मंदिर में दो घंटे से यह ड्रामा चल रहा था...तब कहां थे तुम पंडित...?"

"बहुत कहा था...इन औरतों को... मानती ई नईं...ड्रामा तो इन औरतों ने लगा रखा था..."

"तुमने मना किया...?"

"कहा ना जबरदस्ती...इस औरत को ज़लील कर रई हैं...अब आप तो इसे ज़लील मत करिए...क्या खौज लोगी तुम इसे नंगी करके...?"

"अपनी तसल्ली तो करनी है ना हमने...?"

"क्या होगा फिर?"

"इसकी हकीकत का तो पता चलेगा ना...?"

"कहा ना...यह औरत मुझे दिमागी तौर पर बीमार लगती है...वरना घर से ही क्यों निकलती..."

"तुम इसकी लंबरदारी मत करो... पंडित..."

"आपके हाथ जोड़ता हूं...रहम करो... इसे जाने दो बेचारी होगी...दुआएं देगी तुम्हें..."

तभी झटके से उस महिला पुलिसकर्मी ने उसे जबरदस्ती फ़र्श से उठा लिया था. लगभग घसीटते हुए वह उसे मंदिर के पिछवाड़े वाले कमरे की तरफ ले गई थी. मंदिर का पुजारी प्रतिरोध करते हुए भी असहाय हो गया था.

सभी औरतें तपाकते हुए हाथ उछालने लगी थीं.

"अब देखना...इसका परदा उठेगा...तो ई पता चलेगा कि कमबख्त क्या बला है..." एक औरत बोली थी.

"पुलिस वाले तो तह तक जाते हैं..." दूसरी औरत ने कहा था.

"चलो अब देखते हैं...बात तो कहीं लगेगी..."

"अब तो उसे नंगी कर दिया होगा."

"हमें क्या...? स्साली अपनी करतूतों का फल भुगतेगी..."

"पंडित जी फिजूल में उलझ रए थे उससे..."

"सरकारी काम ऐसे ई होते हैं...ऐसे में किसी की नईं मानते...चाहे सगा बाप ही क्यों ना आ जाए..."

"पुलिस वाले क्या नईं कर सकते..."

"अब देखा ना...उसे नंगी कर दिया ना...तब्बी तो लेडी पुलिस साथ लाए थे."

वह सच ही में नंगी हो गई थी. उसे देखने वाला कोई नहीं था, सिवाए उस पुलिस वाली औरत के...वह दुहत्थड़ें मारती हुई, अपने बदन से उतरे हुए कपड़ों को एक-एक करके पहनने लगी थी. वह नंगी हो गई थी. द्रौपदी की तरह उसकी इज्ज़त बचाने कोई भी कृष्ण नहीं आया था. वह दुहत्थड़ें मारती हुई छाती-पीट स्यापा करती रही थी. उसे अपनी भूख से बिलखती बच्ची याद आ गई थी.

महिला पुलिसकर्मी बाहर आते ही बोली थी, "पुलिस स्टेशन फोन किसने किया था...बोलिए...ख्वामखाह हमें परेशान कर दिया...?"

"कुछ निकला इससे जी...?" एक औरत मंदिर की सीढ़ियों पर बैठे हुए बोली थी.

"सिर मां का निकलना था...जाओ अपने-अपने घरों को...ऐसे ही तमाशा लगा दिया तुम लोगों ने..."

"कुछ नईं निकला...?" दूसरी औरत बोली थी.

"सांप निकलना था क्या...? कहा ना जाओ अब...फिजूल में भीड़ इकट्ठा कर दी तुम लोगों ने..."

"हमें शक था...कहीं कोई जासूस ई ना हो..."

"अब शक दूर हो गया ना...? बेचारी का तमाशा बना रखा था..."

दूसरे पुलिस वाले भी अपनी गाड़ी की तरफ मुड़ने लगे थे.

भीड़ में कोई औरत बोली थी, "हुज़ूर...कुछ चाय पानी तो पीकर जाइए ना...?"

"मेहरबानी तुम लोगों की...इस बेचारी को चाय पिलाई किसी ने...?"

"नईं तो...सब्बी इसकी पूछताछ में लगे रए..."

"अब क्या हो गया है...जाओ घर से 'चा' बनाकर लाओ कोई जनी...भूख से बेहाल हो रई है...इसकी बच्ची के लिए भी दूध लाओ...चलो...अब जाइए..."

"पिलाते हैं जी..."

"और सुनो...रात हो गई है...बेचारी कहां जाएगी...यहीं पड़ी रखोगे इसे मंदिर में...कोई जनी अपने घर ले जाए..."

"ले जाते हैं जी..."

"रोटी भी खिला देना...पता नईं कब की चली होगी अपने घर से...मुझे तो शुदैन लगती है...दिमागी हालत ठीक नईं उसकी."

"हैं...शुदैन है यह..."

"और...तुम लोगों को क्या लगती है. ..शुक्र है इस मंदिर में आ गई...अगर किसी मुंडे के हाथ आ गई होती तो सच ही में अपनी इज्जत भी गंवा देनी थी इस शदैन ने..."

"शुक्र है..." एक औरत रब्ब का स्मरण करने लगी थी.

वह भी अब अपना बैग समेटने लगी

थी. एक-एक करके बैग में अपना सामान रखते हुए वह दुहत्थड़ें मारती रही थी. तौल-तौलकर निकाली गालियां अब भी उसकी ज़बान पर थीं, “तुम्हारा सत्यानाश हो जाए...तुम्हारा कुलनाश हो जाए...नाशपीटो ...मां के खसमों...क्या मिला मुझे नंगी करके...अब चैन आ गया तुम्हें...? कहा था ना मुझ पर रहम करो...तरले किए थे ना...? ‘चा’ के लिए भी गुहार लगाई थी ना...? किसी ने ‘चा’ पिलाई...? नईं ना...मर गए हो तुम सब...मुर्दों की बसती है...तुम लोगों की...लानत है...भाड़ में जाएं...तुम सब...पुलिस बुलाकर तुम्हारा कलेजा ठण्डा हो गया ना...? किसी ने मेरी मदद नईं की...तुम सब नरक भोगोगे... बद्दुआएं ई निकलती हैं...तुम लोगों के लिए...देखना...कीड़े पड़ेंगे तुम सभी को... इस तरह करते हैं कुड़ियों के साथ...?”

वह बराबर तौल-तौलकर गालियां निकालती रही थी.

एक औरत बोली थी...तरल हो गई थी शायद...

“उठ भैणां...चल मेरे साथ...मैं लेकर जाती हूं...तुम्हें अपने घर...”

“जा...नईं जाती...” वह उफन पड़ी थी.

“भूखे मरना है...? कहा ना उठ चल मेरे साथ...रोटी भी खिलाऊंगी...”

“नईं जाना मुझे...”

“रात को कहां जाओगी...इस कुड़ी को लेकर...?”

“कहीं भी...मुझे बख्शो...”

“है पागल कहीं की...तुम्हारे भले की बात कर रई हूं...तुम समझती ई नईं...”

“हां...पागल हूं मैं...बस...मेरी जान छोड़ो...जाने दो मुझे...” उसने तरला किया था.

“‘चा’ नईं पीओगी...?”

“मैंने कुछ नईं पीना...”

“रात को मरना है यहां...मच्छर तोड़-तोड़ के खा जाएंगे...”

“कुछ नईं होगा मुझे...”

वह अड़ियल घोड़े की तरह अड़ी रही थी.

उसने इधर-उधर देखा था, दूर खड़ी कुछ औरतें अब भी बतियाने में लीन थीं. खुसर-फुसर उसके कानों में भी पड़ी थी.

“देखा...किस तरह मीठी-चुपड़ी बातें कर रई है...कम्मो...उसे घर ले जाकर खाना खिलाने की बात सुनी?” एक जनी ने हाथ उछालते हुए कहा था.

“अपने घर वाले को तो रोटी खिलाई नईं कब्बी...शराबी हालत में रात को घूमता रहता है...” दूसरी जनी ने तपाक से कहा था.

“दफा कर इसे...इसका तो यही काम है...जहां देखो हाजिर रहती है...मुंह के स्वाद लेना जानती है...”

“देख लेना अब्बी कोई नई ही कहानी गढ़ लेगी...”

“चलो हमें क्या...मैं तो कैती हूं चलें अब...घर में बच्चे उड़ीक रए होंगे...उन्हें भी तो दो टुक खिलाऊं जाके...”

वह औरतें वहां से खिसकने लगी थीं.

तमाशा खत्म होने को था. पिछले तीन घंटे से वह तमाशा ही बनी हुई है. लोग सिर्फ तमाशबीनों की तरह जुटे हैं. किसी को है कोई सरोकार किसी से...सब भीड़ के बीच मुंडियां उठाए खड़े हैं...वह आग बगूला हो उठी थी. उसने अपना बैग कंधे पर लटका लिया था. मंदिर की सीढ़ियां फलांगते हुए वह गली के मोड़ तक आ गई थी... पुलिस का हवलदार डंडा लहराते हुए बोला था.

“ऐसे करो पंडित जी...इस कुड़ी को यहीं मंदिर में ही ठहरा दो...जनानी जात है...कहां धक्के खाती फिरेगी...रात भर... तुम्हारी कॉलोनी वाले सब्बी तमाशबीन हैं...भैण के यार...बेचारी का तमाशा देख रए हैं...”

“मुझे क्या ऐतराज होगा...मंदिर में अकेली औरत रहेगी...मुझे कुछ अखरता है...मेरी बात समझते हैं ना...?” मंदिर के पुजारी ने कहा था.

“तुम कहना क्या चाहते हो, पंडित?”

“रात को यहां अकेली औरत को हम नहीं ठहरा सकते...”

“तो सीधी तरह बोलो कि तुम इसे यहां नहीं ठहरा सकते...”

“यही समझ लो...फिर रात को मंदिर को बाहर से ताला लगाना होता है...मैं भी यहां थोड़े रहता हूं...रात को अपने घर चला जाता हूं...”

“तो इस कुड़ी का कुछ ‘परबंध’ करना

ई पड़ेगा...” हवलदार ने अपने दूसरे साथी से कहा था.

“तो थाने में ले चलते हैं...पुलिस का फर्ज बनता है ना?” दूसरा पुलिसकर्मी बोला था.

“ऐसा करते हैं, एक बार इन औरतों से पूछ लेते हैं...”

“ठीक कहते हैं आप...तो पूछ लो एक बार...”

हवलदार ने ऊंची आवाज में ललकारा था, “बोलो इस कुड़ी को कोई रातभर अपने घर में रखने को तैयार है...फिर ना कहना...फिर एक ही हल होगा इसके ठहरने का...समझ गए ना? हम इसे पुलिस स्टेशन में ले जा रए हैं...”

सभी बगलें झांकने लगे थे...चपर-चपर करने वाली औरतों को सांप सूंघ गया था. औरतों के अलावा तमाशबीनों की भीड़ में खड़े आदमी भी गूंगे हो गए थे...

भीड़ छितराने लगी थी...

“चल चढ़ गाड़ी में कुड़िए...इन लोगों को देख लिया ना? कोई तुम्हें रातभर के लिए रखने को भी तैयार नहीं...जो लोग एक कप ‘चा’ का नईं पिला सके, उनसे क्या उम्मीद करनी...” हवलदार उसे गड्डी में बैठने का आग्रह करने लगा था.

“मैं नईं जाऊंगी कहीं...” वह अड़ गई थी.

“कहां जाओगी कुड़िए...पगली...यहां कहां रहेगी तू...उठ चल बात समझने की कोशिश कर भैड़िए...चल...शाबाश...बच्ची पर तो तरसकर कुछ...”

“मुझे अब थाने में ले जाकर ज़लील करोगे? पैले ई कोई कसर छोड़ी है...तुम लोगों ने...?”

“अब क्यों सोचती है पिछली बातें?”

“तुम्हीं लोग थे ना? मुझे नंगी करके ई छोड़ा था...इतनी बेरहमी से तो कोई दुश्मन भी नईं पेश आता...तुम लोगों ने सब्बी हदें तोड़ दीं...”

वह अब भी उसी लहजे में गरजती रही थी.

महिला पुलिसकर्मी ने भी उसे समझाना चाहा था.

लेकिन...

“देख भैणां...हम तुम्हारे दुश्मन नईं... जो हो गया...मिट्टी डाल...पुलिस ने अपनी ड्यूटी करनी थी...सब भूल जाओ...चल बैठ गड्डी में...मेरे क्वार्टर में रह लेना...अब तो चल...” वह महिला पुलिसकर्मी बोली थी.

वह गुस्साने लगी थी, “पैले नंगी कर दिया मुझे...तब कहां थी? तुम ई थी ना?”

“फिर वही बात...कहा ना मेरा यकीन कर...चल उठ...भूखे ही मरना है...तो मर... तेरी बेहतरी की बात सोच रए हैं हम... और...एक तुम हो कि मानती ई नईं...”

उसका दिल जार-जार रोने लगा था.

लानत है, ऐसी जनानियों पर...किसी को भी तरस नहीं आया...सब्बी की आत्मा मर गई है. मर्द भी तो सब्बी हिजड़े हैं... अपने को मर्द कहने वाले दरअसल नामर्द हो गए हैं. एक रातभर की तो बात थी... रातभर कहीं भी पसरी रहती...किसे के घर...चोरों की तरह उसे शक की नज़र से देखने लगे सब्बी...

उसके कानों में कुछ खुसर-फुसर पड़ी तो वह चौकन्ना हो गई थी.

“अच्छा किया कम्मो...उसे इनकार कर दिया...क्या पता रात को सोते हुए कोई चीज चुरा कर ही ना चली जाती...इन औरतों के चेहरे पर थोड़े लिखा होता है...” एक औरत भीड़ में से बोली थी.

“ना...अड़िए...रख लेना था ना रातभर ...औरत की हम ई दुश्मन हो गई हैं... वरना...उसे ऐसे जलील होने देती...?”

“क्या बात हो गई...?”

“मैं तो और बोझ लेकर जाऊंगी... हमारे सामने इतना कुछ हो गया...और... हम बस तमाशा देखती रहीं...लानत है हम पर...” वह औरत स्वयं को कोसने लगी थी.

“मेरा मर्द ही नईं माना...मैंने तो ले ई जाना था अपने घर...”

“सब्बी अपने मर्दों से डरती रहीं...हम सब्बी मर्दों की दुनिया में रहती हैं ना? अपना कुछ फैसला हम नहीं ठोंस सकतीं मर्दों पर...दिल तो बहुत करता था...बेचारी की मदद करती...”

“अब क्या लैक्चर झाड़ रई हो...मर्दों की आड़ में बात का रुख ना बदलो... अभी भी क्या बिगड़ा है...उसे अपने घर ले जा...”

“ना...ना...तुम क्यों नईं ले जाती...घर से निकलवाना है मुझे...मेरे खसम का पता है ना...छित्तर परेड भी कर देता है...”

पुलिस वाली गाड़ी वापस चली गई थी.

लोगों का हुजूम छितराने लगा था.

अब मंदिर वाले पुजारी ने भी मंदिर के सीखों वाले गेट पर ताला लटकाते हुए चाबी कुर्ते की जेब में ठूंस ली थी. स्ट्रीट लाइट की रोशनी उसे अखरने लगी थी.

वह अब अकेली रह गई थी.

भूख से उसका बुरा हाल हो चला था. उसने भूखे पेट ही रोती हुई बच्ची के मुंह में अपना स्तन ठूंस दिया था. बच्ची सूखी हुई छातियों से दूध की बूंदे पीकर चुपा गई थी.

वह वहीं मंदिर की विशाल सीढ़ियों पर बैठ गई थी.

उसने आसमान की ओर देखा था. तारों वाली रात उसे अखरी थी. स्ट्रीट लाइट की दूधिया रोशनियां उसकी आंखों में चुभने लगी थीं.

उसने दूर तक देखा था. आसपास की कोठियों के बरामदों की बत्तियां भी बुझ गई थीं. वह भी तो बुझ गई थी. उसने देखा पास ही गली के आवारा कुत्ते सूखी रोटियां चबाते हुए दूर निकल गए थे.

उसने इत्मीनान की सांस ली थी. पुलिस वालों की गाड़ी में ना बैठ उसने अच्छा ही किया था...वरना...उसके जिस्म को चिथड़ों में तब्दील करने में चूकते वे लोग...? उसे उनके लार टपकाते खूंखार चेहरे और भयभीत कर गए थे.

उसने दूसरी बार नंगी होने से बचा लिया था स्वयं को...उसे सभी लोगों के चेहरों पर सींग उग आए प्रतीत हुए थे.

❐

सिनेमा

इरफान : अदाकारी की इब्तिदा और इंतिहा

जाहिद खान

आराम नगर

मशहूर-ओ-मारूफ, 'मकबूल' अदाकार इरफान खान के अचानक इंतिकाल से ना सिर्फ बॉलीवुड-हॉलीवुड में उनके साथ काम करने वाले सह कलाकार, निर्देशक और टेक्नीशियन गमगीन हैं, बल्कि दुनिया भर में उनकी अदाकारी के चाहने वाले भी गम और मायूसी से डूबे हुए हैं. हर ओर उनकी अदाकारी के चर्चे हैं. आलमी तौर पर इतनी शोहरत बहुत कम अदाकारों को हासिल होती है. वे अदाकारी की इब्तिदा थे, तो इंतिहा भी. सहज और स्वाभाविक अभिनय उनकी पहचान था. स्पॉन्टेनियस और हर रोल के लिए परफेक्ट! मानो वो रोल उन्हीं के लिए लिखा गया हो. उन्हें जो भी रोल मिला, उसे उन्होंने बखूबी निभाया. उसमें जान फूंक दी. इरफान की किस फिल्म का नाम लें और किस को भुला दें? उनकी फिल्मों की एक लंबी फेहरिस्त है, जिसमें उन्होंने अपनी अदाकारी से कमाल कर दिखाया है. 'मकबूल', 'हैदर', 'मदारी', 'सात खून माफ', 'पान सिंह तोमर', 'तलवार', 'रोग', 'एक डॉक्टर की मौत' आदि फिल्मों में उनकी अदाकारी की एक छोटी-सी बानगी भर है. यदि वे और जिंदा रहते, तो उनकी अदाकारी के खजाने से ना जाने कितने मोती बाहर निकलकर आते.

राजस्थान के छोटे से कस्बे टोंक के एक नवाब खानदान में 7 जनवरी, 1967 को पैदा हुए इरफान खान अपने मामू रंगकर्मी डॉ. साजिद निसार का अभिनय देखकर, नाटकों के जानिब आए. जयपुर में अपनी तालीम के दौरान वे नाटकों में अभिनय करने लगे. जयपुर के प्रसिद्ध नाट्य सभागार 'रवींद्र मंच' में उन्होंने कई नाटक किए. उनका पहला नाटक 'जलते बदन' था. अदाकारी का इरफान का यह नशा, उन्हें 'नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा' यानी एनएसडी में खींच ले गया. एनएसडी में पढ़ाई के दौरान पिता की मौत के बाद, उन्हें काफी आर्थिक परेशानियां आईं. एक वक्त, उन्हें घर से पैसे मिलने बंद हो गए. एनएसडी से मिलने वाली फेलोशिप के जरिए, उन्होंने साल 1987 में जैसे-तैसे अपना कोर्स खत्म किया. बहरहाल नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा ने इरफान खान की एक्टिंग को निखारा. उन्हें एक्टिंग की बारीकियां सिखाईं, जो आगे चलकर फिल्मी दुनिया में उनके बेहद काम आईं. एनएसडी में पढ़ाई के दौरान इरफान ने कई बेहतरीन नाटकों में अदाकारी की. रूसी नाटककार चिंगीज आत्मितोव के नाटक 'एसेंट ऑफ फ्यूजियामा', मेक्सिम गोर्की के नाटक 'लोअर डेफ्थ्स', 'द फैन', 'लड़ाकू मुर्गा' और 'लाल घास पर नीला घोड़ा' आदि में उन्होंने अनेक दमदार रोल निभाए.

इरफान खान

स्टेज पर अभिनय करते-करते, वे टेलिविजन के पर्दे तक पहुंचे. उन दिनों राष्ट्रीय चैनल 'दूरदर्शन' शुरू-शुरू ही हुआ था और उसके नाटक देशवासियों में काफी पसंद किए जाते थे. इरफान ने यहां अपनी किस्मत आजमाई और इसमें वे खासा कामयाब हुए. गीतकार-निर्देशक गुलजार के सीरियल 'तहरीर' से लेकर 'चंद्रकांता', 'श्रीकांत', 'चाणक्य', 'भारत एक खोज', 'जय बजरंगबली', 'बनेगी अपनी बात', 'सारा जहां हमारा', 'स्पर्श' जैसे उन्होंने कई सीरियल किए और अपनी अदाकारी से वाहवाही लूटी. 'चाणक्य' में सेनापति भद्रसाल और 'चंद्रकांता' में बद्रीनाथ और सोमनाथ के रोल भला कौन भूल सकता है? उन्हीं दिनों इरफान ने टेली फिल्म 'नरसैय्या की बावड़ी' में नरसैय्या का किरदार भी निभाया था. टेलीविजन में अदाकारी, इरफान खान की जुस्तजू और आखिरी मंजिल नहीं थी. उनकी चाहत फिल्में थीं और किसी भी तरह वे फिल्मों में अपना आगाज करना चाहते थे. बहरहाल इसके लिए उन्हें ज्यादा लंबा इंतजार नहीं करना पड़ा. साल 1988 में निर्देशक मीरा नायर ने अपनी फिल्म 'सलाम बॉम्बे' में इरफान को एक छोटे से रोल के लिए लिया. फिल्म रिलीज होने तक यह रोल और भी छोटा हो गया जिससे इरफान निराश भी हुए. बावजूद इसके उनका यह रोल दर्शकों और फिल्म समीक्षकों दोनों को

खूब पसंद आया. फिल्म ऑस्कर अवॉर्ड के लिए भी नॉमिनेट हुई, जिसका फायदा इरफान को भी मिला. अब उन्हें फिल्मों में छोटे-छोटे रोल मिलने लगे.

फिल्मों में केंद्रीय रोल पाने के लिए इरफान को एक दशक से भी ज्यादा वक्त का इंतजार करना पड़ा. साल 2001 में निर्देशक आसिफ कपाड़िया की फिल्म 'द वॉरियर' उनके करियर की टर्निंग प्वाइंट साबित हुई. इस फिल्म से उन्हें जबरदस्त पहचान मिली. ये फिल्म अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोहों में भी प्रदर्शित की गई. उनकी इस अंतर्राष्ट्रीय ख्याति पर बॉलीवुड का भी ध्यान गया. निर्देशक विशाल भारद्वाज ने अपनी फिल्म 'मकबूल' के केंद्रीय किरदार के लिए उन्हें चुना. साल 2003 में यह फिल्म रिलीज हुई और उसके बाद का इतिहास सभी जानते हैं. पंकज कपूर, तब्बू, नसीरूद्दीन शाह, ओम पुरी, पीयूष मिश्रा जैसे मंजे हुए अदाकारों के बीच इरफान ने अपनी अदाकारी का लोहा मनवा लिया. साल 2004 में वे 'हासिल' फिल्म में आए. इस फिल्म में भी उन्हें एक नेगेटिव किरदार मिला. इस निगेटिव रोल का दर्शकों पर इस कदर जादू चला कि उन्हें उस साल 'बेस्ट विलेन' का फिल्मफेयर अवॉर्ड मिला. जाहिर है कि 'मकबूल' और 'हासिल' के इन किरदारों ने इरफान खान को फिल्म इंडस्ट्री में स्थापित कर दिया. एक बार उन्होंने शोहरत की बुलंदी छुई, तो फिर पीछे मुड़कर नहीं देखा.

अपने एक पुराने इंटरव्यू में इरफान ने खुद कहा था, ''उनके करियर में सबसे बड़ी चुनौती, उनका चेहरा था. शुरुआती दौर में उनका चेहरा लोगों को विलेन की तरह लगता था. वो जहां भी काम मांगने जाते थे, निर्माता और निर्देशक उन्हें खलनायक का ही किरदार देते जिसके चलते उन्हें करियर के शुरुआती दौर में सिर्फ निगेटिव रोल ही मिले.'' लेकिन अपनी मेहनत और दमदार एक्टिंग से वे फिल्मों के केंद्रीय किरदार नायक तक पहुंचे और इसमें भी कमाल कर दिखाया. हां, इसकी शुरुआत जरूर छोटे बजट की फिल्मों से हुई. एनएसडी में उनके जूनियर रहे निर्देशक तिग्मांशु धूलिया की फिल्म 'पान सिंह तोमर' से उन्हें वह सब कुछ मिला, जिसकी वे अभी तक तलाश में थे. फिल्म न सिर्फ बॉक्स ऑफिस पर सुपर हिट साबित हुई, बल्कि इस फिल्म के लिए उन्हें राष्ट्रीय पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया. 'पान सिंह तोमर' के बाद उन्होंने एक के बाद एक कई हिट फिल्में दीं. 'हिंदी मीडियम', 'लंच बॉक्स', 'जज्बा', 'चॉकलेट', 'गुंडे', 'पीकू', 'करीब-करीब सिंगल', 'न्यूयॉर्क', 'हासिल', 'लाइफ इन ए मेट्रो', 'बिल्लू' आदि फिल्मों में उन्होंने अपने अभिनय से फिल्मी दुनिया में एक अलग ही छाप छोड़ी.

शारीरिक तौर पर बिना किसी उछल-कूद के, वे गहरे इंसानी जज्बात को भी आसानी से बयां कर जाते थे. हॉलीवुड अभिनेता टॉम हैंक्स ने उनकी अदाकारी की तारीफ करते हुए एक बार कहा था, ''इरफान की आंखें भी अभिनय करती हैं.'' वाकई इरफान अपनी आंखों से कई बार बहुत कुछ कह जाते थे. आहिस्ता-आहिस्ता अल्फाजों पर जोर देते हुए, जब फिल्म के पर्दे पर वे शाइस्तगी से बोलते थे, तो इसका दर्शकों पर खासा असर होता था. इरफान बॉलीवुड के उन चंद अदाकारों में से एक हैं, जिन्हें हॉलीवुड की अनेक फिल्में मिलीं और उन्होंने इन फिल्मों में भी अपनी अदाकारी का झंडा फहरा दिया. 'अमेजिंग स्पाइडर मैन', 'जुरासिक वर्ल्ड', 'द नेमसेक', 'अ माइटी हार्ट' और 'द इन्फर्नो' जैसी हॉलीवुड की अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सुपर-डुपर हिट रही फिल्मों का वे हिस्सा रहे. डैनी बॉयल की साल 2008 में आई 'स्लमडॉग मिलेनियर' को आठ ऑस्कर अवॉर्ड्स मिले. जिसमें उनकी भूमिका की भी खूब चर्चा हुई. यही नहीं ताईवान के निर्देशक आंग ली के निर्देशन में बनी फिल्म 'लाइफ ऑफ पाई' ने भी कई अकेडमी अवॉर्ड जीते. अपनी एक्टिंग के लिए इरफान को अनेक अवार्डों से नवाजा गया. साल 2004 में 'हासिल', 2008 'लाइफ इन अ मेट्रो', 2013 'पान सिंह तोमर' और साल 2018 में 'हिंदी मीडियम' के लिए उन्हें फिल्म फेयर अवार्ड मिला. साल 2011 में भारत सरकार ने इरफान को 'पद्मश्री' सम्मान से सम्मानित किया.

इरफान खान पिछले दो साल से 'न्यूरोएंडोक्राइन ट्यूमर' नामक खतरनाक बीमारी से जूझ रहे थे. 5 मार्च, 2018 को उन्होंने खुद एक ट्वीट कर बताया था कि उन्हें एक दुर्लभ बीमारी है. अपनी पोस्ट की शुरुआत उन्होंने मार्गेरेट मिशेल के विचार से की थी. इरफान ने लिखा था, ''जिंदगी पर इस बात का इल्जाम नहीं लगाया जा सकता कि इसने हमें वह नहीं दिया, जिसकी हमें उससे उम्मीद थी.'' यानी जिंदगी के जानिब उनका रवैया हमेशा पॉजिटिव रहा. इतनी गंभीर बीमारी से जूझते हुए भी, उन्होंने कभी अपनी हिम्मत नहीं हारी. यह उनकी बेमिसाल हिम्मत और जज्बा ही था कि इलाज के बाद वे वापस लौटे. वापस लौटकर 'इंग्लिश मीडियम' फिल्म की शूटिंग पूरी की. फिल्म रिलीज हुई, लेकिन लॉकडाउन की वजह से यह फिल्म सिनेमाघरों में ज्यादा दिन तक चल पाई. जब ऐसा लग रहा था कि उन्होंने अपनी बीमारी पर काबू पा लिया है, वे जिंदगी की जंग जीत गए हैं कि अचानक उनकी मौत की खबर आ गई. इरफान खान भले ही जिस्मानी तौर पर हमसे जुदा हो गए हों, लेकिन अपनी लासानी अदाकारी से वे अपने चाहने वालों के दिलों और जेहन में हमेशा जिंदा रहेंगे. ऐसे कलाकार मरकर भी नहीं मरते, बल्कि अमर हो जाते हैं.

❐

संपर्क : महल कॉलोनी, शिवपुरी (म.प्र.)
मो. : 9425489944
ईमेल : jahidk.khan@gmail.com

कहानी

बद्धनवा नाऊ के लउंडा सलमनवा

•

फ़रज़ाना महदी

हंस वागर्थ, रेवांत, इंकेलाब, जन संदेश टाइम जैसी पत्र-पत्रिकाओं में कहानियां प्रकाशित. समांतर और अभिव्यक्ति नाट्य संस्था के साथ कई नाटक किए.

संपर्क : मो.-सैदाना, क़स्बा-जायस, ज़िला-अमेठी (उ.प्र.)
मो. : 9984154059
ईमेल : mahdihusain@gmail.com

“अरे अब संवर चुके हों तो जाइए भी क्या मजलिस ख़त्म हो जाएगी तब जाइएगा?” ज़ैनब ने अपने शौहर प्रोफ़ेसर सलमान सलमानी साहब को शेरवानी पहनकर आदमक़द शीशे के सामने खड़े देखकर कहा.

प्रोफ़ेसर सलमान सलमानी साहब अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के प्रोडेक्ट हैं पढ़ाई पूरी करने के बाद वहीं इतिहास के लेक्चरर हो गए और तब से आज तक लेक्चरर ही हैं, जबकि उनके जूनियर सयद मुर्तज़ा, इदरीस सिद्दीक़ी साहब वग़ैरह प्रोफ़ेसर हो चुके हैं. बल्कि इन्हीं के एक जूनियर फ़िरोज़ फ़ारुक़ी साहब तो अभी-अभी हेड ऑफ़ द डिपार्टमेंट बनाए गए हैं. सलमान सलमानी साहब इस बीस साल की मुलाज़िमत के बाद भी लेक्चरर के ओहदे पर ही अटके हुए हैं. वो जिस दौर से अलीगढ़ गए तब से ये पहली बार हुआ कि जायस की तरफ़ पलटकर रुख़ किया. पहले का तो नहीं मालूम कि वो क्यों नहीं आते थे लेकिन बाद के दौर में जायस आने का मन बनाया. पर उसी बीच एक घटना घटी जिसने उनके इरादे को फिर टाल दिया.

हुआ यूं कि सलमान सलमानी साहब को लोग शुरू में सिर्फ़ सलमान के नाम से ही जानते थे. कोई नहीं जानता था कि वो सलमानी यानी नाऊ बिरादरी से तअल्लुक़ रखते हैं और न ही कभी किसी ने इसकी छानबीन की. सभी को यही लगता रहा कि ऐसा ज़हीन और ख़ुशफ़हम इंसान ज़रूर सयद ही होगा शायद इसी ग़लतफ़हमी में लोगों ने उनके नाम के आगे पहले सयद फिर पीछे नक़वी जोड़ दिया. अब उनका नाम हो गया सयद सलमान नक़वी. ये हुआ भी यूं कि जायस अवध का एक मशहूर क़स्बा है और अकसर मुसलमान ये जानते हैं कि वहां शिया नक़वी सयदों की अच्छी आबादी है. मौलाना क़ल्बे जव्वाद और डॉ. क़ल्बे सादिक़ के बुज़ुर्ग इसी ज़मीन से तअल्लुक़ रखते थे. फ़िलहाल इस ग़लतफ़हमी के चलते सलमान साहब का नाम हो गया सयद सलमान नक़वी. सलमान साहब ने भी कभी लोगों की इस ग़लतफ़हमी को

दूर करना बेहतर नहीं समझा और करते भी क्यों! भला किसे मुफ़्त में मिली इज़्ज़त रास न आएगी. हर कोई हाथ उठाकर सलाम करता था, हफ़्ते में कम से कम चार शामें किसी दावत में गुज़रती, हर गंभीर मौजू पर उनकी राय ली जाती थी. वो हर मौजू पर बड़ी बेबाकी और तार्किक ढंग से बोलते थे लेकिन जब भी क्लास और कास्ट के विषय पर बात होती तो वो अपने आपको काफ़ी असहज महसूस करते, एक-दो बार अपनी राय रखी भी तो चारों तरफ़ से उन्हें मुख़ालेफ़त ही झेलनी पड़ी कुछ लोगों ने उनसे दबी जुबान ये भी कहा कि ''आप सयद होकर ऐसी बातें...''

इसी ग़लतफ़हमी का एक असर ये भी हुआ कि बिजनौर के रिटायर्ड प्रोफ़ेसर सयद हैदर अली ज़ैदी साहब जो रिटायरमेंट के बाद अलीगढ़ में ही शिफ़्ट हो गए थे उन्होंने एक शाम सलमान साहब को अपने घर पर दावत दी. दिल खोलकर उनकी आव-भगत की और खाना खाने के बाद बड़ी मोहब्बत से बोले ''जनाब नक़वी (सलमान) सल्लमहु ख़ुदा गवाह है कि मुझे आपसे उतनी ही मोहब्बत है जितनी अपने बेटों से और इसी मोहब्बत के बाइस आप से एक इल्तेजा है और उम्मीद करता हूं कि आप मुझे मायूस नहीं करेंगे.''

''सर आप हुक्म कीजिए.''

''मेरी ख़ाहिश है कि आप मेरी छोटी बेटी कुलसूम सयदा से निकाह कर लें. वो बिलकुल आपकी हम ख़्याल है.''

सलमान साहब को उस वक़्त इसका कोई जवाब नहीं सूझा, ''मुझे ज़रा सोचने का वक़्त दीजिए.'' बस इतना ही कह पाए.

कई दिनों तक वो इसी उलझन में रहे कि क्या जवाब दें. उन्हें मालूम था कि इससे बेहतर रिश्ता अपनी बिरादरी में नहीं मिल सकता. जहां लड़कों की सही तालीम व तरबियत न हो पाती हो वहां भला लड़कियां किस गिनती में आती हैं. अगर हां करते हैं तो एक झूठ का सहारा लेना पड़ेगा और जिस रिश्ते की बुनियाद ही झूठ पर टिकी हो वो भला कैसे फल-फूल सकता है. और अगर न करते हैं तो ये जो अपनी ज़ात को सुधारने का मौक़ा मिला है हाथ से चला जाएगा. ज़ैदी साहब ने इस बीच कई बार इशारतन पूछा कि ''किस फ़ैसले पर पहुंचे.'' और सलमान साहब हर बार टाल देते थे.

इसी उधेड़बुन में करीब एक महीना बीत गया. अब वक़्त आ गया था कि सलमान साहब किसी फ़ैसले पर पहुंचे वरना उनकी ये ख़ामोशी न ही समझ ली जाएगी, काफ़ी सोच-विचार करने के बाद सलमान साहब इस फ़ैसले पर पहुंचे कि अपने फ़ायदे के लिए किसी शरीफ़ इंसान के साथ ऐसा फ़रेब करना गुनाह है और ये कोई हमेशा छुपने वाली बात तो है नहीं कभी न कभी तो पता चलेगा ही फिर क्या होगा. कुलसूम ये

उन्तीस को ही चांद निकल आया. हर घर से औरतों के रोने की सदा आने लगी. 'चांद निकला है फ़लक़ पर गुल अज़ादोरों में है' की सदा फ़िज़ा में गूंजने लगी और समां ग़मगीन हो गया. इमाबाड़ों से आती हुई पुराने कपड़ों की भीनी-भीनी सी ख़ुशबू ने बढ़कर मोहर्रम का स्वागत किया.

जानकर कि उसने एक नाऊ से शादी कर ली है वो उससे तलाक़ भी ले सकती है. और मेरे हां करने के बाद ज़ैदी साहब मेरे ख़ानदान की छानबीन भी करेंगे उन्हें तो इसी बीच मेरी ज़ात का पता चल जाएगा इसलिए यही बेहतर होगा कि जगहंसाई होने से पहले हक़ीक़त पर से पर्दा हटा दिया जाए. अब इत्तेफ़ाक़ ये हुआ कि उसी शाम ज़ैदी साहब के घर से बुलावा आ गया कि 'अभी आकर मिलें.' सलमान साहब ने सोच लिया था कि अपनी ज़ात बताने के बाद फ़ैसला उन्हीं पर छोड़ देंगे.

जब वो उनके घर पहुंचे तो उन्होंने देखा कि ज़ैदी साहब के बग़ल में इत्तन चचा यानी इतरत नक़वी साहब बैठे थे. इतरत नक़वी जायस के एक इज़्ज़तदार ख़ानदान से तअल्लुक़ रखते हैं और उनकी इलाक़े में बड़ी पैठ जीम हुई है. उन्हें देख सलमान साहब के चेहरे पर फीकी मुस्कुराहट फैल गई. उन्होंने उन दोनों को सलाम किया. दोनों ने इशारे में जवाबे सलाम दिया. बग़ल में रखी एक कुर्सी पर सलमान साहब बैठ गए.

इत्तन चचा ने अर्थपूर्ण मुस्कुराहट के साथ कहा, ''क्या हाल है सलमानी साहब, कैसी चल रही आपकी प्रोफ़ेसरी?'' सलमान साहब के जवाब का इंतज़ार किए बिना वो ज़ैदी साहब से मुख़ातिब हुए, ''इसके बाप-दादा हजामत का काम करते थे, बल्कि इसकी पूरी बिरादरी आज भी अपना रवायती पेशा अपनाए हुए है, बस यही जैस से बाहर निकला और आज पढ़-लिखकर इस मुक़ाम को पहुंचा है.'' इत्तन चचा के जुमलों में गहरा व्यंग्य था और इस व्यंग्य का रस लेते हुए ज़ैदी साहब के चेहरे पर एक ज़हरीली मुस्कुराहट फैल गई थी.

सलमान साहब बस इतना ही कह पाए कि ''पर यहां लोगों को मेरे सयद होने की ग़लतफ़हमी हो गई है.''

''अरे तो इस ग़लतफ़हमी को आप जल्दी ही दूर करिए क्योंकि इससे तो आपकी मां के किरदार पर दाग़ लगता है.'' इत्तन चचा का ये जुमला सलमान साहब के लिए किसी गाली से कम न था.

अगर कोई और मौक़ा होता तो वो इसका जवाब ज़रूर देते लेकिन इस वक़्त तो वो ही घिरे हुए थे, उन्हें ये सोचकर बड़ी कोफ़्त हुई कि उन्होंने ज़ैदी साहब को उसी वक़्त जवाब क्यों नहीं दे दिया अगर जवाब दे दिया होता तो इस वक़्त ये सब न सुनना पड़ता. सलमान साहब बस मुस्कुराकर रह गए.

इत्तन चचा और ज़ैदी साहब में बात चल निकली थी. विषय यही था कि लोग कैसे थोड़े से फ़ायदे के लिए अपनी ज़ात बदल देते हैं जब कि इससे उन्हीं की मां पर गाली चढ़ती है.

सलमान साहब कुछ देर बैठे रहे फिर किसी काम का बहाना करके उठे और

सलाम करके वहां से चले गए.

इत्तन चचा ने जायस आकर ये बात और लोगों को बताई मगर कुछ अलग अंदाज़ में, ''अब का बताएं लड्डन भाई का ज़माना आए गए है, अभिन हम ज़रा काम से गए रहे अलीगढ़, वहीं बिजनौर के ज़ैदी साहब से मिले चले गए. वे बात-बात मा बताए लगें कि जैस के कऊनो सयद सलमान नक़वी साहब आएं यहां लेकचरर अऊर उनकी बिटया से शादी करना चाहत आएं. पहिले तौ हमका समझ मा ही नहीं आवा कि ये कऊन नक़वी साहब आएं कि जिनका हम नहीं जानित, ख़ैर जब उनका बुलावा गवा तौ पता चला कि या तौ बद्धनवा नाऊ के लउंडा सलमनवा आए जऊन यहां सयद बना घूम रहा. अऊर फिर लड्डन भाई हमने जऊन ऊका खरी-खरी सुनाई कि ऊके सात पुश्तन याद रखियैं. थोड़ी देर तौ छछूंदर-सा मुंह बनाए बइठा रहा अऊर जब देखिस कि हमार गुस्सा बढ़त जाए रहा तब दुम दबाएके भागा वहां से.''

जायस में ये वाक़िया एक कान से दूसरे कान तक पहुंचता रहा और हर बार कोई न कोई एक नया जुमला ज़रूर जुड़ जाता इसीलिए जब ये वाक़िया घूमते-घूमते अलीगढ़ में सलमान साहब तक पहुंचा तो इसका रूप कुछ यूं था कि ''...अऊर जइसे ही सलमनवा कुर्सी पर बइठे का हुआ कि इत्तन चचा का तैश आए गवा. वे आव देखिन न ताव बस जूता निकालके सलमनवा के सर पर बरसाए लगें अऊर साथ ही गरियात भी रहे 'साले...सुअर की अऊलाद, हमार सामने कुर्सी पर बइठत आए, बाप-दादा हजामत बनावैं अऊर लऊंडा पढ़ का लिस कि एक सैदानी से ब्याह रचाए का ख़ाब देखें, कम्बख़त, हराम का जना, अपनी जात भूल गवा.' सलमान सर झुकाए मार खात रहे अऊर रोए-रोए के माफ़ी मांगत रहे.''

ग़रज़ ये कि इस वाक़िए के बाद सलमान साहब ने जायस का रुख़ नहीं किया और अपने नाम से सयद और नक़वी को इस तरह दूर किया जैसे इंसान सुबह उठने पर सबसे पहले अपने पेट की ग़लाज़त को दूर करता है. अब वो सलमान सलमानी के नाम से जाने जाने लगे. ज़ैदी साहब ने उस वाक़िए को पोशीदा रखा क्योंकि उन्हें लगा कि इसमें मेरी ही बदनामी ज़्यादा होगी. उनकी ज़ात पर से पर्दा हटने के बाद कुछ लोगों ने उनसे दूरी ज़रूर बनाई पर उन पर इसका असर कोई ख़ास नहीं पड़ा क्योंकि तब तक उनकी अच्छी धाक जम चुकी थी और ऐसे लोगों की एक बड़ी तादात थी जिन पर उनकी ज़ात से ज़्यादा उनके इल्म और किरदार का असर था. ख़ैर इसी बीच उनके मां-बाप भी अलीगढ़ आए गए थे. आने के कुछ दिनों बाद वो अपने एक दूर के सुन्नी रिश्तेदार के यहां घूमने को गए जो नगीना में रहते थे. वहीं सलमान साहब की मां ने ज़ैनब को देखा, ज़ैनब बला की ख़ूबसूरत थी. उन्होंने अपनी रिश्तेदार से पूछा, ''का बहनी या आपकी बिटया है?''

रिश्तेदार ने कहा, ''जी मेरी पेट पुछनी है, ज़ैनब नाम है इसका.''

''शादी होय गए?''

''अभी तो नहीं. रिश्ते की तलाश में हैं. ...आए भी कई और अच्छे रिश्ते आए, मगर इनका कहना है कि उसी से करेंगे ज़ैनब की शादी जो नाऊगीरी न करता हो...''

''अरे इसमें कऊन सी दिक्कत है.'' सलमान साहब की मां ने उनकी बात काटकर कहा, ''हमार बेटा तो प्रोफ़ेसरी कर रहा अलीगढ़ मा, ऊके रिश्ते ख़ूब आ रहे पर हमे एक पढ़ी-लिखी बहू चाहिए, अब सलमान के बराबर तो नहीं पर ख़त-किताबत करे लायक़ तो होवे. भई हमका आपकी बिटया पसन्द है आगे आपकी मरज़ी.''

भला ज़ैनब के मां-बाप क्यों इंकार करते, उन्हें बिन मांगी मुराद मिल गई थी. पहली बात तो वो अच्छे से जानते थे कि इससे बेहतर रिश्ता उन्हें अपनी बिरादरी में चराग़ लेकर ढूंढने पर भी नहीं मिलेगा और दूसरी बात ये कि दो पुश्त ऊपर उनकी नस्ल में मुचयाने की एक पुट आ गई थी इसलिए कोई खरा नाऊ भी मिलना मुश्किल है. ये बात सलमान साहब के मां-बाप नहीं जानते थे.

सलमान साहब के अब्बा यानी बद्धन उस वक़्त ख़ामोश रह गए लेकिन बाद में अपनी बीवी पर ख़ूब बमके क्योंकि उन्हें यक़ीन था कि बेटा प्रोफ़ेसर है तो इसलिए सुल्तानपुर के ख़ां साहेबान या लखनऊ के किसी दाग़ी सयद ख़ानदान में ज़रूर रिश्ता फ़िट हो सकता था, पर अब तो उनकी बीवी ने बेवक़ूफ़ी कर ही दी थी लेकिन फिर भी बद्धन इतनी आसानी से हार मानने वाले नहीं थे इसीलिए उसी वक़्त ये साफ़ कर दिया कि मेहर चौदह सौ से ज़्यादा का नहीं होगा और बात-बात में ये भी ज़ाहिर कर दिया कि उन्हें दहेज में और सारे सामानों के साथ-साथ दो पहिया भी चाहिए. उस वक़्त दो पहिया ख़रीद पाना बड़ा मुश्किल होता था पर ज़ैनब के मां-बाप इस रिश्ते की अहमियत अच्छी तरह से जानते थे इसलिए उन्होंने इस बेतुकी मांग को मान लिया. ख़ैर सलमान साहब की शादी चट मंगनी पट बियाह की एक बेहतरीन मिसाल बनी. शादी अलीगढ़ से ही हुई.

सलमान साहब जायस नहीं जाते थे पर इसका मतलब ये हरगिज़ नहीं था कि उनका जायस से नाता टूट गया हो, जायस और उसके आसपास के तमाम लोग अलीगढ़ आते थे किसी को अपने लड़के का एडमीशन कराना हो या किसी को कोई और काम, सभी सलमान साहब के पास आते थे और वो हमेशा उन सभी की मुश्किलकुशाई के लिए तैयार रहते थे. सलमान साहब की मां तो उन्हीं के साथ रहती थी पर बद्धन साहब को जायस छोड़ना गवारा नहीं था इसलिए वो ज़्यादातर जायस में ही रहते थे. हां साल में दो-चार बार अलीगढ़ का चक्कर लगा आते थे और हर बार उनकी यही कोशिश रहती थी कि बेटे को जायस आने को मना लें. उनकी इसी कोशिश में बीस

साल गुज़र गए और एक दिन जायस से नस्सो आपा का फ़ोन आया, ''अब्बा नहीं रहे.''

सलमान साहब तुरंत अपने निजी साधन से जायस को रवाना हो गए. जो काम बद्धन साहब की डाटें और ख़ुशामदें न कर सकीं, वो काम नस्सो आपा के इस एक जुमले ने कर दिखाया.

बद्धन साहब का जनाज़ा बड़ी शान से उठा. तीजा की मजलिस में भी ख़ूब मजमा था. आख़िर होता भी क्यों न—प्रोफ़ेसर सलमान सलमानी साहब के वालिद का तीजा था. तीजा दूसरे दिन ही कर दिया गया था क्योंकि तीसरे दिन बकरीद की उन्तीस तारीख़ थी, मोहर्रम शुरू होने वाला था और सभी को अपने घर जाने की जल्दी थी.

उन्तीस को ही चांद निकल आया. हर घर से औरतों के रोने की सदा आने लगी. 'चांद निकला है फ़लक़ पर गुल अज़ादोरों में है' की सदा फ़िज़ा में गूंजने लगी और समां ग़मगीन हो गया. इमाबाड़ों से आती हुई पुराने कपड़ों की भीनी-भीनी सी ख़ुशबू ने बढ़कर मोहर्रम का स्वागत किया. बाजे बजने लगे, बच्चे चहकने लगे, काले कुर्ते दिखाई देने लगे और सलमान सलमानी साहब भी काली शेरवानी पहन घर से बाहर निकल आए और रास्ते में खेलते एक बच्चे से पूछा, ''कहां मजलिस हो रही है?'

बच्चा अपनी धुन में ज़ोरों से बोला, ''इत्तन दादा के इमामबेड़े मा!''

वो इत्तन साहब के इमामबाड़े की ओर बढ़ गए. सोज़ ख़त्म हो चुका था. मरसिया पढ़ने के लिए ज़ाकिर मिम्बर पर पहुंचा. मजमा अभी कम था इसीलिए सलमान साहब मिम्बर के क़रीब पहुंचकर शहनशीन में सजे तबर्रुक को झुककर मुजरा किया और बैठ गए. वहां कुछ लोग उन्हें पहचानते थे कुछ नहीं, लेकिन जब मरसिया पढ़ते हुए सयद तक़ी साहब ने उन्हें सलाम किया तो आस-पास बैठे लोगों ने उनकी तरफ़ देखा, कुछ ने हाथ बढ़ाकर मुसाफ़िहा भी किया.

इत्तन चचा के बग़ल में बैठे एक साहब ने पूछा ''ये जनाब कऊन आएं? पहिचान नहीं रहिन.''

''सलमनवा आए.''

''कऊन सलमान?''

''बद्धनवा के लउंडा.''

''ऐं ऽ ऽ...''

''हां भई.''

वो जनाब एक गहरी सांस छोड़ते हुए और सीने पर हाथ मारते हुए ''हाय हुसैन'' कहकर ख़ामोश हो गए.

ख़ैर मजलिस होती रही. कुछ ही वक़्त में इमामबाड़ा खचाखच भर गया. सयद तक़ी साहब उड़ान पर उड़ान भर रहे थे. पीछे की सफ़ में बैठे बच्चे आपस में लड़ रहे थे. जवान आपस में बतिया रहे थे :

''कितनी उड़ान अभिन अऊर भरियैं?''

''अमां बड़ा हइज़ा है इनका पढ़ेके.''

''कऊनौ बताएदे अभिन तीन मजलिस बाक़ी हैं.''

...और आगे की सफ़ में बैठे बुज़ुर्ग हाथ बढ़ा-बढ़ाकर दाद दे रहे और मुकर्रर इरशाद की गुहार लगा रहे और उन्हीं के बीच बैठ मीर अनीस का बंद सुन सलमान साहब झूम रहे थे. आज न जाने क्यों इत्तन चचा बड़े ख़ामोश रहे, हां मसाएब में ख़ूब गला फाड़कर रोए और 'हाय मेरे मौलो' 'हाय मेरे आक़ा' की सदा बलंद करते रहे. मजलिस ख़त्म हो गई थी. सभी सयद तक़ी साहब से मुसाफ़िहा कर रहे थे. सलमान साहब भी मुसाफ़िहा कर उन्हीं के बग़ल में बैठ गए. कॉलेज के पढ़ने वाले कई सयद नौजवान सलमान साहब के इर्द-गिर्द दो ज़ानू होकर बैठ गए थे और दूर डेढ़ी के पास खड़े कुछ नव्वे बड़े गर्व से सलमान साहब को देख रहे थे और मन ही मन ख़ुद से वादा कर रहे थे कि ''अब हमहूं अपने लऊंडन का पढ़इबै.''

छब्बनवा नाऊ तबर्रुक़ की सीनी लेकर आ गया. हादी मियां तबर्रुक़ बाटने के लिए खड़े हो गए. तभी इत्तन चचा ने आवाज़ लगाई, ''अरे सलमान का पढ़-लिख के सारे रसम-रवाजौ भूल गएव?'' सलमान साहब उनकी बात को समझने की कोशिश कर ही रहे थे कि वे आगे बोले ''का शेरवानी चढ़ा बइठे हौ, चलौ उठौ सीनी पकड़ौ. तुम्हार अब्बा मरहूम हमेशा यहां की सीनी उठाइन हैं, अब का विरासत न निभयूौ.''

''अरे मियां हम तौ उठाए हइन न.'' छब्बनवा नाऊ बीच में बोला.

''काहे उठाए हौ भई, तुम्हार नंबर ईके बाद वाली मललिस मां है, अब का सारा सवाब तुमहिन बटौरिहौ?''

हादी मियां हाथ बांधकर खड़े हो गए. मजमे में एक ख़ामोशी सी पसरी रही सब की नज़र सलमान साहब पर थी, ''अरे उठौ भई सलमान अउरौ मजलिस होए का आए.'' बग़ल में बैठे नफ़ीस चचा ने कहा.

छब्बनवा नाऊ सीनी लिए उनके पास आकर खड़ा हो गया. सलमान साहब ने एक बार चारों तरफ़ देखा कि कहीं से कोई आवाज़ उठे पर वहां हर तरफ़ एक मुर्दा ख़ामोशी पसरी हुई थी, वो कुछ कहना चाह रहे थे कि कहीं पीछे से आवाज़ आई, ''अबे उठ बे नव्वे.'' वो फिर ख़ामोश हो गए.

एक नज़र इमामबाड़े के दर पर खड़े सलमानियों पर डाला, उन सब की निगाहें मानो सलमान साहब से कह रही थीं कि 'काहे मुसीबत मोल लेत हौ, तुम तो चले जइयौह हमें यहीं रहे का है.''

आख़िरकार सलमान साहब इस मुश्किल के साथ उठे कि मानो हुसैन अली अकबर का जनाज़ा लेकर उठ रहे हों. हाथ बढ़ाकर सीनी ले लेते हैं, फिर पूरे इमामबाड़े में वैसा ही शोर फैलता है जैसा हुसैन के क़त्ल के बाद यज़ीदी फ़ौज में. इत्तन चचा मुस्कुरा रहे थे और अपने सर पर सीनी लिए हुए खड़े थे अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर सलमान सलमानी साहब, नहीं सलमान हज्जाम, नहीं सलमान नाऊ, नहीं बद्धनवा नाऊ का लऊंडा सलमनवा.

❐

कोरोना डायरी

जेबा खातून/अमन

यह स्तंभ दिल्ली और आसपास की कामगार बस्तियों के तरुण-युवा लेखकों की प्रतिनिधि रचनाएं आप तक पहुंचाएगा. ये लेखक और इनका लेखन बने-बनाए खांचों में नहीं समाते. 'घुसपैठिये' स्तंभ के लेखक अभी-अभी जवान हुए हैं या हो रहे हैं. एकाध को छोड़कर इसके सभी संभावित लेखकों की उम्र 20 वर्ष के अंदर ही है लेकिन इन सबमें कुछ सामान्य विशेषताएं भी हैं. सभी की आर्थिक-सामाजिक पृष्ठभूमि लगभग समान है. इससे भी बड़ी विशेषता यह है कि इनके लिए बचपन की किताबें कागजों से उतनी नहीं बनती हैं जितनी उनके संघर्ष, मोहल्लों, माहौल और जगह से बनती हैं. उनकी लिखाई में वे जगहें आपको सुरक्षित मिलेंगी. आप शायद महसूस करें कि साहित्य के उत्पादक और उपभोक्ता, अभिलेखन/रिकॉर्डिंग और सृजन, किस्सा और तथ्य के बीच के अंतर यहां धुंधले पड़ जाते हैं.

साहित्य के सुरक्षित-आरक्षित डिब्बे में घुस आए इन घुसपैठियों को आप कैसे बरतेंगे, यह आप ही को तय करना है.

घुसपैठिये

गली का गेट बंद करके बच्चे और बड़े सभी गली में ही खेल रहे हैं. बच्चे वही हैं लेकिन खेल बदल गए हैं. पहले जहां पार्क में कंचे, बैट-बॉल खेलते थे, वही आज कैरम और लूडो के फैन हो रहे हैं. पार्क में बच्चों का झुंड नहीं, पत्तों की बारात सजी हुई है.

घर का रुटीन पहले जैसा नहीं रहा. पापा सुबह साढ़े पांच बजे उठकर घर पर ही नमाज अदा करते हैं, और उसके बाद दुकान पर चले जाते हैं. दुकान तो वैसे किराना की है लेकिन माल की आवाजाही कम होने के कारण पूरे दिन नहीं खुलती है. बारह बजे दुकान बंद करके पापा घर आ जाते हैं, फिर शाम पांच बजे दुकान को दुबारा खोलकर, रात आठ बजे घर आ जाते हैं. हालांकि अम्मी पर लॉकडाउन का ज्यादा असर नहीं पड़ा है. पहले भी अम्मी घर में ही रहती थी, सिर्फ सब्जी लेने के लिए ही बाहर जाती थी.

मेरा और मेरे भाई-बहनों का बहुत ही

जेबा खातून

जन्म : 21 जून, 2003

छह साल से अंकुर के नियमित रियाजकर्ता हैं. हंस, चकमक में प्रकाशित हो चुकी हैं.

पता : आई-185, सुंदरनगरी,
नई दिल्ली-110093
मो. : 919350081359

बुरा हाल है. पूरे दिन घर में बोर होते रहते हैं. स्कूल जाना नहीं है, सो दस-ग्यारह बजे ही उठते हैं. पूरा दिन लूडो खेलकर, मोबाइल चलाकर या पढ़ाई करके बिताते हैं. बेचारे मोबाइल की जैसे रेल ही बनी हुई है. सुबह से लेकर रात तक बेचारे को फुरसत ही नहीं मिलती. सुबह उठते ही दोनों भाई गेम खेले बिना मानते ही नहीं हैं. स्कूल बंद होने के कारण हम सभी भाई-बहनों की पढ़ाई मोबाइल पर ही चल रही है. काम के बाद कभी अम्मी फोन पर बात करती है तो पापा उस पर न्यूज सुनते हैं. इस तरह पूरे ही दिन मोबाइल किसी न किसी के हाथ में ही रहता है. और हाथ से बचता है तो चार्जर में जा घुसता है.

एक दिन हम लूडो खेल रहे थे और मैं हार गई. हार जाने के बाद जब सभी ने मुझे चिढ़ाना शुरू किया तो मैं भी कहने लगी, मैं जीत गई, मैं तो जीत गई, मैंने सबको हरा दिया. बस फिर क्या था? छोटा भाई आगबबूला हो गया कि एक तो हारी है ऊपर से जीतने का ढोंग कर रही है. उसने दूर से ही अपना पैर चलाया और मेरा सिर दीवार से जा टकराया. मैं रोते-रोते लेट गई लेकिन मम्मी ने उसकी खूब धुलाई की. मैं रोते-रोते सो गई. करीब दो घंटे तक मैं सोती रही. टाइम कट गया.

मेरी खाला (मौसी) का फोन आया था, बता रहीं थी कि उनके गांव की तरफ भी कोरोना ने अपने पैर जमा लिए हैं. कोई

आदमी कोरोना पॉजिटिव निकला है. मेरी मम्मी उन्हें हिदायतें दिए जा रही थीं, बच्चों को घर से बाहर निकलने मत देना, उनका खास ख्याल रखना, सफाई का भी ध्यान रखना, बच्चों के हाथ धुलवाती रहना वगैरह-वगैरह.

एक दिन मम्मी के पैरों में दर्द हो रहा था और घर में सब्जी नहीं थी. मैं ही सब्जी लेने बाजार गई. घर से बाहर कदम रखने से पहले मैंने मास्क लगाया और फिर बाजार गई. मैं सब्जी को छांट रही थी तभी एक सवाल कौंधा कि सब लोग तो छू-छू कर सब्जी छांट रहे हैं, अगर किसी को कोरोना हुआ तो? इतने में ही पुलिस के सायरन की आवाज आई. सब्जी वाले अंकल कहने लगे, भीड़ कम कर दो भाई! साइड हो जाओ! मैंने सब्जी ली और घर आने लगी, तभी किसी को कहते सुना, भाई मैं तो घर में बैठा बोर हो रहा था सो सब्जी लेने के बहाने घूमने चला आया. मुझे उनकी बात सुनकर हंसी भी आई और दुःख भी हुआ. मैं तेज कदमों से घर आई और साबुन से अच्छी तरह से हाथ-पैर धोने के बाद ही घर में घुसी.

अमन

मैं छह बहनों में अकेला हूं. मेरी दो बहनें काम पर जाती थीं. अम्मी कॉलोनी में ही चप्पल की सफाई-कटाई करती थीं. अब्बू दिल्ली में कभी रिक्शा चलाते तो कभी किराए पर ऑटो चलाते. मैं स्कूल से आने के बाद अम्मी के कामों में हाथ बटाता और शाम को किताबघर जाता. डांस सीखने में मन ज्यादा लगता तो सबसे ज्यादा डांस सीखता.

अब सब थम गया है. 12 मीटर के कमरे में सब कुछ सिमट गया है. इस कमरे में हम 10 लोग रहते हैं, ग्यारहवीं दादी है, जो काफी बुजुर्ग है. वह मुझे बहुत चाहती है. उनकी चाहत ही मुझे डांस सीखने को

अमीर अहमद

जन्म : 27 अप्रैल, 2007

चार साल से अंकुर के नियमित रियाजकर्ता हैं. यह इनकी दूसरी रचना है, पहली चकमक में छप चुकी है.

पता : ए-598, सावदा-घेवरा जेजे कॉलोनी, दिल्ली-110081

मो. : 8447296790

कहती है. अम्मी इधर परेशान थी क्योंकि अब्बू काम वाली जगह में फंस गए थे.

अब्बू दस-पांच दिन उधर ही दोस्त के घर रहे. रमजान के साथ-साथ अम्मी अब्बू का भी इंतजार करती रहती. बाजी हम सब के लिए राशन की तलाश में निकल जाती. सुबह में हम लोग चाय के साथ मुरमुरा ही खाते. अम्मी ने एक बोरी मुरमुरा रख लिया था. बाकी खाना के नाम पर कभी लंच आता या राशन में मिले चावल बनाते. मुझे और अम्मी को अब्बू की फिकर रहती. फोन पर बात होती तो अम्मी की आंखों में आंसू भर आते लेकिन वह उन्हें अपने दुप्पट्टे से पोंछ लेती, जैसे कुछ गिरा ही नहीं.

अब्बू एक रात काम वाली जगह से पैदल ही भाग आए. उन्हें देख हम सब खुश हुए. लेकिन वे उदास थे. इस बार वे अपनी आधी कमाई खर्च कर आए, बचत के 2000 हजार रुपए अम्मी को दिए और तख्त के दूसरे कोने में सिमटकर बैठ गए.

अम्मी बाहर निकली. चाय की पत्ती, तेल और एक बोरी मुरमुरा फिर ले आई. 10 किलो आटा-चावल तो राशन की दुकान से मिल गए थे. अब्बू रोज सुबह-शाम कमाने की सोचते हैं. लेकिन मुस्लिमों को जमातियों के नाम में बदनाम कर दिया गया है. इस वजह से वह सब्जी की रेहड़ी भी नहीं लगाते हैं. खोखा में पान-बीड़ी सिगरेट बेचने की सोच रहे हैं लेकिन अब वह भी नहीं मिल रहा है. मैं डांस करने भी नहीं जाता हूं.

मेरे घर में जब सब उदास दिखते हैं तो बाजी के मोबाइल में गाना बजाकर अपना डांस दिखाता हूं. डांस को देखकर दादी खुश होती है और अपनी भूख भूल जाती है. वह कहती है, मैंने इस जिंदगी में पहले कभी ऐसा डांस नहीं देखा. मैं अपनी दादी के गले में हाथ डालकर बोला, तो अब देख लो!

अम्मी और बड़ी बहन खाना की खोज में रहती हैं. वे खाना बंटने वाली जगह पर समय से पहले लाइन में लग जाती हैं. जब खाना आता है उसे देखकर लगता है, इसे कौन- कौन खाएगा? खाने के नाम पर मजाक है. उस खाने को हम दो-तीन ही चट कर जाते हैं फिर भी पेट नहीं भरता है; अब तो सब मिलकर खाते हैं. उसमें दादी का भी हिस्सा लगाना पड़ता है. अब्बू कई दिन केशोपुर मंडी भी गए, वहां से फल-सब्जी ले आते थे, बोरा ढो आते थे. अब तो वह भी सील कर दिया गया है, पूरे रमजान पर पानी फिर गया है. यह मेरे घर की कहानी नहीं, सबके घर की कहानी है.

लॉकडाउन से कोई खुश नहीं है, सभी निराशा से भरे पड़े हैं. बस टी.वी. की खबरों के सहारे सभी जिंदा हैं. अब्बू तो सुबह-शाम न्यूज में यही देखते हैं कि लॉकडाउन कब खुलेगा? इसी आस में तख्त के एक कोने में बैठे रहते हैं. ❑

हंस की चर्चित कहानियां अब अंग्रेजी में

उपलब्ध है
हंस का वार्षिक संकलन

हंस की महत्त्वपूर्ण कहानियों का अंग्रेजी अनुवाद
(1986 से 1990)

हंस पत्रिका के आकार में
वार्षिकांक-1 : 2019
मूल्य : ₹ 100

(डाक खर्च अतिरिक्त)

अक्षर प्रकाशन, प्रा. लि.
2/36, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
फोन : 011-23270377, 41050047
ईमेल : editorhans@gmail.com वेबसाइट : www.hanshindimagazine.in

पंजाबी कहानी

सांप-बिच्छू

•

केसरा राम

जन्मः 1 जनवरी 1966, (हरियाणा) कृतियांः 'राम किशन बनाम स्टेट हाजिर हो', 'पुलसिया क्यूं मारदा है?', 'बुलबुल्यां दी काश्त' 'थैंक्स ए लॉट पुत्तरा!' तथा 'ज़नानी पौध', पांच मौलिक पंजाबी कथा संग्रह के अलावा पंजाबी, राजस्थानी से परस्पर अनुवाद की एक दर्जन पुस्तकें प्रकाशित. एक कथा संग्रह गुजराती में अनुवाद होकर प्रकाशित.

संपर्क : म.नं. 420, सेक्टर 16, हिसार-125005 (हरियाणा)

मो : 9416235210

ईमेल : kesra.ram@gmail.com

अनुवाद : अमरीक सिंह दीप

फ्लैट नंबर 101, गोल्डी अपार्टमेंट, 119/372-बी., दर्शनपुरवा, कानपुर-208012 (उ.प्र.)

मो. : 8765379718

ईमेल : amriksinghdeep1@gmail.com

"संभोग से पूर्व बिच्छू नृत्य करते हैं और संभोग के पश्चात नर बिच्छू की मृत्यु हो जाती है..."

यह नया किस्सा मुझे जोगी ताऊ ने सुनाया था. पिछली बार जब मैं उनसे मिलने गया था.

किस्सों का तो भंडार है जोती ताऊ. नित्य नए-नए किस्से.

मेरे भीतर बिच्छू नृत्य करने लगे थे. मर्यादा, नैतिकता और रीति-रिवाजों की समस्त सीमाओं का अतिक्रमण कर. न कोई रोक-टोक. न कोई आचार संहिता, न किसी संस्कृति का झमेला. नितांत उत्सव काल...जहां नर विशुद्ध नर, मादा विशुद्ध मादा. शेष कुछ भी नहीं...

मैं भी दौड़कर ऐसी ही नृत्यशाला में पहुंच जाना चाहता हूं जहां नृत्य न सही, कम से कम खुलकर सांस तो ले सकूं. एक जगह है ऐसी पर वहां मेरा आवागमन आम नहीं.

हां, कृष्णा अक्सर हमारे घर आती-जाती रहती है. वह तो है ही स्वछंद हवा का झोंका. उसे कहां कोई रोक-टोक सकता है. जोगी ताऊ द्वारा बताया हुआ यह किस्सा जब मैंने उससे साझा किया तो मेरी तरह वह भी हतप्रभ रह गई थी. मैंने देखा, उसकी आंखों में बिच्छू नृत्य की परछाइयां उतर आई थीं.

फिर उसके दर्शन-दीदार से पैदा हुए सरूर से सराबोर होकर मैंने उसे पूछा, "के ख़याल सै?"

नत-नजर वह बोली, "तन्नै तो मैं पहल्यां ए गुरु मान राख्या सै...गुरु घंटाल!" और मुस्कराने लगी.

विषय से इतर कही गई उसकी इस बात में निश्चय ही मेरी प्रशंसा के साथ-साथ उसकी दृष्टि में मेरा क्या स्थान है इसकी भी कुछ-कुछ झलक थी जिसे मैं डी-कोड करने लगा.

हम आपस में पत्र-पत्रिकाओं और इंटरनेट से प्राप्त नवीन जानकारियों का विनिमय करते रहते थे. मैंने और कृष्णा ने इस वर्ष बी.ए. कम्पलीट किया था. हम सिविल सर्विस की तैयारी कर रहे थे. स्पोर्ट्स परसन होने के कारण कृष्णा को पुलिस की ओर से नौकरी का ऑफर भी आ चुका था.

विकट बेरोजगारी के कारण फिलहाल मेरी हालत पतली थी. आर्थिक तौर पर न सही, लेकिन लोगों के अनावश्यक सवाल ही जीना तो कठिन कर ही देते हैं न!

''बिच्छू क्या सच में नृत्य करते हैं?'' कृष्णा की आंखें विस्मय-विस्फारित थीं.

आश्चर्यचकित मैं भी था. बॉडी लैंग्वेज या अन्य मेरी किसी हरकत से जोगी ताऊ ने ऐसा क्या बूझ लिया कि उसने मुझे यह बिच्छुओं के संभोग वाला किस्सा बताने के योग्य मान लिया था.

इससे पहले तो ताऊ प्रायः सर्पों की ही बातें किया करता था कि 'मणि-वणि कुछ नहीं होती सांप के फन में. यह निपट दंतकथा है. या वह मुझे सांप कितने प्रकार के होते हैं, यह बताया करता था. उनके रंग-रूप, आकार-प्रकार. नाग-नागिन के प्रेम के काल्पनिक मनोरंजक किस्से. नागिन द्वारा अपने प्रेमी नाग की मौत का बदला आदि. प्रचलित दंतकथाओं से हटकर भी कई किस्से. और आखिर कहानी पहुंच जाती महम-रोहतक के गांव-गोठ के सांपों से लेकर दिल्ली-दक्षिण के अजब-गजब इलाकों तक.

क्या मजे-मजे के किस्से!

उसे मुझमें क्या कोई परिवर्तन नजर आया था?

इधर कृष्णा में अवश्य भारी परिवर्तन आ गया था. वह नर्तकी की तरह थिरकते हुए चलती. वह कुरुक्षेत्र में इंटर-यूनिवर्सिटी कबड्डी टूर्नामेंट खेलने गई थी. इस बार इनकी टीम ने गोल्ड मैडल जीता था. यह बात मुझे विशेष तौर पर बताने आई थी. किंतु गोल्ड से कहीं अधिक तो वह, पहेलियां-सी बूझते हुए, शायद अपनी महाभारत ही सुनाने आई थी. कि कैसे उन दोनों ने कुरूक्षेत्र यूनिवर्सिटी में भ्रमण किया. कैसे ब्रह्मसरोवर की परिक्रमा की और...

और फिर बातों-बातों में मैंने यह ताड़ लिया था कि उस छोरे और कृष्णा ने इस बार अवश्य कोई खास पहेली बूझ ली है. उस छोरे का दो-एक बार पहले भी जिक्र किया था कृष्णा ने. वह भी कबड्डी का प्लेयर है. रेलवे की ओर से खेलता है. खेल के दौरान अक्सर मिलते रहते थे दोनों.

कृष्णा द्वारा अक्सर उस 'खिलाड़ी' के किए गए संक्षिप्त जिक्र को मैं किस रूप में लूं, कभी तय नहीं कर पाया. कभी सोचता कि यह जिक्र भी कृष्णा द्वारा मेरे साथ मजे लेने के लिए की जाने वाली छोटी-छोटी शरारतों का ही हिस्सा हो? तो कभी महसूस होता...नहीं, नहीं...इसके पार सोचने से मैं स्वयं रोक लेता.

एक बार मेरे चेहरे के ऐसे ही द्वंद्व-भाव को पढ़ते हुए कृष्णा ने पूछ भी लिया था, ''कुछ जल रहा है? यह स्मेल कहां से आ रही है?'' और मैं शर्मिन्दा-सा हो गया था.

पर इस बार मैं स्वयं को रोक नहीं पाया. जब पूछा तो यूं लगा जैसा कृष्णा को भी बताने की जल्दी थी. तपाक से शुरू हो गई, ''हां, यह सच है.''

सच सुनकर मेरे कानों से धुआं निकलने लगा. रोम-रोम धू-धू कर जल उठा.

अब काहे को कृष्णा को जलने की स्मेल आती.

कृष्णा ने अपना कथन जारी रखा, ''उनका गांव कैथल के निकट है. उस ओर पंजाबी कल्चर का प्रभाव अधिक है न! सो लोगों में रहन-सहन, बोल-चाल का सलीका भी है.''

कैसे सलीके से मुझे सब बता रही थी कृष्णा! यूं जैसे ससुराल से लौटी नवब्याहता सहेलियों से सरगोशियां करती है.

और बताती चली गई, ''जानते हो, कैथल-पेहोवा के आसपास कितने बड़े-बड़े गुरुद्वारे हैं! सब देखे. कितना अच्छा कल्चर है न! सारी संगत एक पंगत में. सबै एकै पहचानबो...''

आगे बताया, ''पेहोवा में एक ऐसा मंदिर भी देखा जिसमें महिलाओं का प्रवेश वर्जित है. कहते हैं, अगर कोई महिला उस मंदिर में प्रवेश कर जाए तो वह विधवा हो जाती है. और सात जन्मों तक विधवा रहती है.'' आश्चर्य प्रकट करते हुए फिर दोहराया, ''सात जन्मों तक?''

''क्यों सात जन्म बहुत अधिक लग रहे हैं?''

उसने जवाब न देकर आगे बताया, ''पता है, पेहोवा के पास एक ऐसा स्थान भी है जहां लोग कम उम्र में मरने वालों की गति करवाने आते हैं...''

''और जो मार दिए जाते हैं...?''

''यही तो बिडंबना है. देख न, सरस्वती नदी का अस्तित्व तक मिटा दिया और उसका मंदिर बना दिया... पूजते हैं... ख़ैर, उसने अपनी बुलेट पे ये सब दिखाया मुझे.''

इतनी रूह से बता रही थी कि सब कुछ जैसे मुझे भी साकार दिखाई देने लगा था. गोया कि मैं उनकी जासूसी करता उनके पीछे-पीछे घूम रहा होऊं.

गोकि इतना सरल नहीं था अपने भावों पर अंकुश रखना फिर भी जैसे-तैसे अपने पर नियंत्रण रखते हुए मैंने कहा, ''चलिए अच्छा है. खुला-डुला समाज हो तो सांस लेना सरल हो जाता है...यूं सामाजिक तानेबाने में खास अंतर नहीं है. स्त्री के लिए हर जगह स्पेस उतना भर ही है... चाहे रोहतक, जींद हो या कैथल, पोहवा.''

मेरी बात सुन वह चुप ही रही. पहले की तरह उसने इस बात पर कोई डिस्कस नहीं किया जैसे अक्सर किया करती है. शायद सोच रही हो, 'अपना स्पेस मैं स्वयं बना लूंगी.'

''जानते हो, हम दोनों की ननिहाल एक ही गांव में है. पर गौत्र भिन्न है. पत्ती दूसरी है इसलिए उनकी आपस में न कोई खास जान-पहचान और न एक-दूसरे के यहां आना जाना है.''

''ननिहाल गांव...?'' मैं और भी कुछ

कहने वाला था कि मौजूदा समय में बुरी तरह से उलझा हुआ हमारा सामाजिक ताना-बाना अखबार की सुर्खियां बनकर मेरे सम्मुख फैल गया. उसकी ननिहाल खापों के जाल में उलझी उल्टी लटकती महसूस हुई.

''हां, इस बार घर-परिवार की बातें हुईं तो पता चला.'' कृष्णा के चेहरे पर फैली चंचलता का स्थान अचानक सयानेपन ने ले लिया. इससे पहले कि चिंता घेरे, गंभीर हो गीता का ज्ञान बघारने लगी, ''चलो छोड़ो, तुम काहे चिंता करते हो.''

मुझे चिंता हो गई थी. उसी समय मेरी नजरों के सामने कृष्णा का बाप चौधरी राम मेहर सिंह आ खड़ा हुआ. परंपरा और संस्कृति की रक्षा हेतु तैनात आंखों में लाल डोरों का जाल...ऐंठकर खड़ी की गई मूंछों पर नींबू टिकाने और उड़ते हुए कबूतर पर अचूक निशाना साधने की शर्त लगाने वाला, गांव के चंद फन्ने खां चौधरियों में से एक. लांग वाली महीन धोती. कलियों वाला लंबा कुरता. बाएं कान पर तनिक अधिक झुकी हुई पगड़ी का पीछे की ओर मुड़ा हुआ पल्ला. पता नहीं ताजा-ताजा हुई बातों का प्रभाव था या कुछ और कि वह पल्ला मुझे बिच्छू की पूंछ की तरह लगा था.

''बिच्छू की पूंछ आगे की ओर मुड़ी होती है और भूत के पांव पीछे की ओर.'' जब भी जोगी ताऊ को कोई बात कहनी होती वह उसे दिलचस्प बनाने के लिए दो-दो के जोड़े बनाकर बात शुरू करता.

ताऊ ने न जाने क्यों, उस दिन एक बार फिर पूछा था, ''चन्द्रावल का किस्सा सुण राख्या सै?''

समझ नहीं पाया कि ताऊ की इन बातों का क्या मतलब है और आजकल वह ऐसे सवाल क्यों पूछा करता है?

मैंने कहा, ''रहणे भी दो ताऊ, कितणी बार तो फिल्म देखी हुई सै, अर तू बी कितणी बार यो किस्सा सुणा चुक्या, लोहारों की लड़की और जाटों के लड़के की प्रेम कहानी...कत्ल कर दिए गए दोनों...बोले, जात-पात तो देख लेती ससुरी! है न! कोई सांप-बिच्छुओं की बात सुणाओ, नई-नकोर.''

''ये सांप-बिच्छू ही तो हैं ससुरे मेरे... जिनकी मैं बात करूं सूं.'' कहते हुए जोगी ताऊ कतई खामोश हो गया था.

मैं सोचने लगा, ''कैसा होगा वह बिच्छू जिसने कृष्णा के सामने नृत्य किया होगा?''

कृष्णा कबड्डी खेलने में ही नहीं हर मामले में धाकड़ धावक है. मुझसे तो पलक झपकते ही आगे निकल जाती है. दसवीं, फिर प्लस-टू के नंबरों में मुझसे बाजी मार गई. अब कुरुक्षेत्र गई और महाभारत जीत कर आ गई. और मैं...वह क्या कहते हैं, इसी तरह शरशय्या पर पड़ा रहूंगा...खोखली मर्यादा से जकड़ा? कई बातें दिमाग में रील की तरह गतिशील हो उठती हैं.

''इंसान जिससे प्रेम करता है क्या उसके बारे में बुरा भी सोच सकता है?'' मन के किसी कोने से आवाज आई.

''नहीं-नहीं, ऐसी बात तो सोचना भी गलत है.'' सिर झटक देता हूं अपना पर ख्याल नहीं झटक पाता.

जोगी ताऊ से पूछता हूं, ''सुण्या सै ताऊ, नाग या नागिन को मारने पर उसकी आंखों में मारने वाले की तस्वीर अंकित हो जाती है? और फिर बचा हुआ जोड़ीदार मारने वाले से बदला ले लेता है?''

जोगी ताऊ ने पहले तो मेरा चेहरा देखकर मन पढ़ने की कोशिश की. फिर आंखों में झांककर कुछ सोचने लगा जैसे पूरा अध्ययन कर लिया हो. फिर सिर पर बंधे अपने पटके को ठीक करते हुए बोला, ''नहीं रे बावले! उनकी आंखों में क्या ब्याह-शादियों में फोटो खींचने वाला कैमरा फिट होवै सै?'' ठस्स से हंसते हुए उसे खांसी का दौरा पड़ गया. सांस स्थिर रखना कठिन हो गया था पर चिलम पीना उसने जारी रखा. साथ में खांसना भी.

मुझे तात्कालिक तौर पर तसल्ली हुई थी.

''और ताऊ वो...दूध पिलाणे वाली बात...?''

''मैं तो सांपों के नाम पर इक्ट्ठा कर अपने बेटे को पिलाता रहा हूं...'' और फिर ताऊ क्षितिज की ओर देखने लगा. फिर अपने घुटने जोड़कर उन पर ठुड्डी रखे बैठे की नजर अपने पांवों पर आकर ठहर गई.

जोगी ताऊ ने एक बार बताया था, मोर अपने पैरों को देखकर रोया करते हैं और...

''बेटा मेरा साला नामर्द! सुल्फा-सल्फा पीकर मर गया.'' कहते हुए ताऊ ने गहरा उच्छश्वास लिया और आगे बोला, ''काश! सांप दूध पीते!''

यह किस्सा पहले भी कई बार उसने सांपों के किस्सों के साथ सुनाया था. बेटा उसका बीन बजाना छोड़कर शहर के किसी ऑरकेस्ट्रा में ड्रमर बन गया था. वैसे यह कोई अनहोनी बात तो थी नहीं पर जब इसे पता चला तो कहते हैं, सुनते ही इसके घुटनों के नट-बोल्ट ढीले हो गए. अधकाय में जान ही न रही.

उसके अनुसार बेटे ने अपना पुश्तैनी धंधा छोड़कर बीन का निरादर तो किया ही था, खानदान की नाक भी कटवाई थी. बीन की मधुर धुनें, जो उसने अपने बेटे को सिखाई थीं, उसे याद आतीं. सपने में और सोते-जागते भी उसे उल्हाना देतीं. ताने मारतीं. ड्रम की कर्कश आवाजें हर पल उसके कानों में हथौड़ों की तरह बजती रहतीं.

चुगली करने वाले कहां टलते हैं. किसी के दुख-सुख से उन्हें क्या मतलब! किसी ने जोगी को बताया कि ये इतने बेसुरे ड्रम ऐसे ही नहीं पीटे जाते, इन्हें यूं बजाने वालों को न जाने कैसे-कैसे नशे लेने पड़ते हैं. और आजकल के छोरे-छोरियां हैं कि इसी को संगीत समझकर थिरकते नहीं थकते. बेड़ा गर्क!

कुछ भी हो, जोगी को अहसास हो चुका था कि शहर निश्चित ही उसके बेटे को खा जाएगा.

बेटे की मृत्यु होते ही बहू किसी के

साथ भाग गई. इतने सदमों को सहन न कर पाने के कारण ताऊ की घरवाली की भी मृत्यु हो गई.

मां की मृत्यु के पश्चात लड़की भी किसी के साथ भागने की फिराक में थी कि ताऊ की जहांदीदा आंखों ने ताड़ लिया. बेटी को पास बैठाकर कहा, ''भागने की क्या जरूरत है पगली? आराम से जाओ...भाग तो हम युगों-युगों से ही रहे हैं...दो जून की रोटी के लिए...बस यह नेक-धरमी से मिल जाए...और क्या... अपने लिए तो बच्ची, सुख-इज्जत का यही पैमाना.''

बेटी हैरान-परेशान. उसकी ठुड्डी का काला तिल और माथे पर बाईं ओर गोदना से मंडवाया हुआ चांद-तारा भी हैरान-परेशान और फीके-से दृष्टिगोचर हुए.

दुनियादार बाप ने उसे यकीन दिलाना चाहा, ''मैं हूं न, तेरे साथ! तेरे सिवा मेरा भी इस निर्मोही दुनिया में और कुण सै? इतणी धूमधाम से करूंगा मेरी कल्लो का ब्याह... कि देख कै सारा कबीला दांतों तळे दबा लेगा उंगलियां...कबीला क्यूं, गाम-राम के सारे लोक देखैंगे...कि जोगियों की छाती के दम पै बजने वाली बीन से कैसी शानदार स्वर-लहरियां निकलती हैं... और कैसा होता है कालबेलिया नृत्य...'' कहते हुए उसकी पनीली आंखों में और झुरड़ाए चेहरे पर दैवी चमक आ गई थी. अपने कमजोर घुटनों के बावजूद उसके शरीर में हुई हरकत से लगा जैसे वह भी कालबेलिया नृत्य में शामिल हो गया हो और गूंज उठा हो संगीत—'हो काळयो कूद पड्यो मेळै में...!'

कल्पना में जोगी ताऊ के गले की फूलती नसों को देखकर लगा जैसे बीन बजाने के साथ ही वह नृत्य में भी छोरियों का साथ इतने जोशपूर्वक दे रहा था जैसे यह उसकी जिंदगी का आखिरी नृत्य हो. उसकी सांवली-सलोनी कल्लो भी अपने ब्याह की खुशी में नाचते हुए जैसे अपनी सभी सहेलियों पर भारी पड़ रही हो. ज्यों ही एक गीत पूरा होता, अगला शुरू हो जाता—'अर्रे रे रे रे... हो छोरी...! चाल पड़ी सासरिए...!' और कालबेलिया कन्याएं ऐसे देह तोड़कर नाच रही थीं, जैसे रबड़ की गुड़ियां हों. शायद इसी खूबी के कारण इन्हें जाटों के घरों में होने वाली ब्याह-शादियों में भी उसी तरह बुलावा दिया जाता था जैसे उनके अपने कुटुम्ब-कबीले की बहू-बेटियों को.

लेकिन जमाने की बहती हवा और अन्य वास्तविकताओं के असर तले आई उस कालबेलिया कन्या को तो अपने बाप की बात पर विश्वास ही नहीं हो रहा था.

जोगी फिर बुदबुदाने लगा, ''मन माने की मौज है साधो! मन्नै नाच के यार मनावण दे...कंजरी बण्यां इज्जत नीं घटती, घर कंजरां कै जावण दे...ये इज्जत-विज्जत तो सब खाते-पीते, बड्डी-बड्डी हवेलियों वाले चौधरियों के चोंचले हैं रे...''

पर उसने भागना ही बेहतर समझा. हालांकि यहां इज्जत का सवाल खड़े होने वाली बात न के बराबर ही थी. क्योंकि भूखे उदरों का अर्थशास्त्र और थोथी इज्जतों का समाजशास्त्र की पुस्तकें अलग-अलग होती हैं. वह जाट समाज के उस लड़के के साथ भागी थी, जिनके घर बचपन से ही लस्सी लेने जाया करती थी. और जवानी में पैर रखते ही उनके खेत में कटु जमाने से चोरी-छिपे मीठे गन्ने चूसने जाने लगी थी. ऐसा समाज जहां इज्जत के गणित को अब अपने हिसाब से बैठाया जाने लगा है. जहां बहू तो चाहे यूपी-बंगाल-बिहार कहीं से भी हो, सब स्वीकार कर ली जाती हैं.

संभवतः उसे शक था कि बड़ी बिरादरियों का प्रभाव छोटी बिरादरियों पर आ ही जाता है. काला सफेद के साथ रहे, रंग न सही, अक्ल तो प्रभाव में आ ही जाती है. कालबेलिया जाति ने भी तथाकथित ऊंची जातियों में व्याप्त कुछ बुराइयों को अवश्य अपना लिया होगा. उसकी आशंका सही निकली.

कहते हैं हिंदुस्तान अजूबों का देश है. और देसां में देस अनोखा वीर देस हरियाणा का तो कहना ही क्या! यहां तो रोज अजूबे घटित होते हैं. सो घुमंतू जोगियों की बस्ती, जो स्वयं में एक अजूबा थी, में भी अजूबा घटित हो गया था. इससे जाटों में तो खास हलचल नहीं हुई पर जोगी अंदर ही अंदर खदबदा उठे. पानी तो नीचे की ओर ही बहता है. ताऊ को बिरादरीबदर कर दिया गया. पांवों की लाचारी के चलते वह कहीं जा नहीं सकता था इसलिए बिरादरी वाले इसे यहां छोड़कर कहीं और चले गए.

गांव से बाहर शामलाट पर कभी जोगी ताऊ और उसके अन्य कुटुम्बियों ने परंपरा के खिलाफ जाकर झुग्गियां खड़ी की थीं. बेशक यह क्रांतिकारी कदम था. लेकिन एक बार फिर अन्य समाजों की देखा-देखी उन जोगियों के लिए इज्जत का सवाल इतना अहम बन गया कि पक्के ठिकाने का मोह भी उन्हें रोक नहीं सका.

मुझे जोगी ताऊ का नाम ठीक से मालूम नहीं. शायद आजम खां या अमीन

दीन है. यूं यह हमारे दादे का हमउम्र है. पर हम इसे ताऊ कहते हैं. गांव के कई पुराने चौधरियों की जोगी के साथ पुरानी यारी है, जो कभी इसके पास आने के बहाने जोगिनों से थोड़ी चुहूल-चिकोटी कर लिया करते थे. पर जैसे कहते हैं न, जिधर गई जोगिनें वहां गए पुराने यार बेली. हां, दो-एक बूढ़े अब भी हैं, जिनके पास जाने की बातें तो बेशक समाप्त हो चुकी हैं पर उधर से गुजरते हुए उसे रोटी-टुक अवश्य पकड़ा जाते हैं.

कई बार मेरा दादा भी मुझे जोगी ताऊ के पास भेज दिया करता, ''रोटी देकर आओ रे मेरे बेली को.''

और इस तरह, समझ लीजिए, वह मेरा भी बेली बन गया. ढेरों किस्से सुने हैं मैंने इससे. उजड़ी हुई इस कालबेलिया बस्ती का अब यह अकेला वारिस है. जहां कभी सपेरा नृत्य और घूमर की धूम हुआ करती थी और धमक सुनकर रास्ते जाते राहगीरों के कदम थम जाया करते थे वहां अब उल्लू बोलते हैं. खाली पड़ी झुग्गियों में आवारा कुत्तों ने घूरे बना लिए हैं. मतलब ताऊ के ज्ञात इतिहास पर अगर नजर डालें तो उसके जीवन के थोड़े से काल में बहुत कुछ घट-गुजर गया था. होनी ने क्या-क्या रंग दिखा दिए थे.

और होनी इधर भी बलवान थी. कृष्णा ने जब मां को बताया तो मां ने पता है क्या कहा, ''तू तो मरेगी ही मुझे भी मरवाएगी.''

बात उसकी भी सही थी. एक कैदिन किसी को कैद होने से कैसे बचा सकती थी? परंतु क्या किया जा सकता था? यह तो जमाने का दस्तूर है. किस्से-कहानियों में भी हम पढ़ते-सुनते आए हैं कि हंस-हंस लाइयां यारियां, रो-रो देवे दस्स...

अब कृष्णा रोते हुए मुझे बता रही थी, ''बापू कहता है, काट डालूंगा...''

कभी बात-बात में कहा करता था, ''गोली मार दूंगा!''

कृष्णा के हठी दादा के पास बंदूक थी. दोनाली. इस बंदूक को कंधे पर रखकर वह सांग, रागनी कम्पीटिशन अथवा अखाड़े में घोळ-कुश्तियां देखने और खाप पंचायतों में जाया करता था.

दादा के फकत तीन लड़के थे. राम मेहर, दिलबाग सिंह और बघेल. सब एक से एक छंटेल. सबसे छोटा बघेल फौज में चला गया. बीच वाला दिलबाग फौज में था ही. अब जेल में है. दबंग दादे की दादागिरी से तंग आ दुखियारी दादी ने जल्दी ही भगवान के घर पनाह ले ली थी.

लोग बताया करते हैं, ''चारों लंडूर क्या खूब गदर मचाया करते थे! आगंन में खड़े होकर नंगे नहाणा...! कभी देख्या ना सुण्या!''

एक बार छुट्टी पर गांव आया दिलबाग किसी से उलझ गया था. आक्रोश में आकर बंदूक उठा ली और बोला, ''बापू वाली बंदूक कब काम आवैगी. पड़े-पड़े जंग लग गया है.''

और अब, जब वह जेल से बाहर आएगा तो निश्चय ही उसके घुटनों को जंग लग चुका होगा. कृष्णा की मां और उसकी मौसी यानी दिलबाग की पत्नी सगी बहनें हैं. दोनों की गृहस्थ-गाड़ी किसी तरह धिक रही है. दोनों ही मौन को गृह सुख की अनिवार्य शर्त मानती हैं. लोग भी दबी जबान में इतना ही कहते हैं, ''चुप ही भली है.''

बड़े घरों के बारे में न कोई ज्यादा कुछ बोलता है न सुनता है. यूं वर्तमान समय का सच यह है कि जितने भी चौबारे-तिखंडे जिन विशालकाय दीवारों पर खड़े हैं, उनकी बुनियादें खोखली हो चुकी हैं. यही लोग मान-मर्यादा-परंपराओं के नाम पर ज्यादा हाय-हाहाकार करते हैं.

मैं अपने आपे में लौटकर ताऊ से मुखातिब होता हूं, ''अरे नहीं ताऊ, रोटी के सिवा और भी बहुत कुछ चाहिए इंसान को...रोटी की क्या बात कर दी तुमने?''

''अरे जुग-जुग जिओ बल्ली, तुम्हारी दिन-रात की भागदौड़ रोटी के लिए...सारी राजनीति भी...गलत कहूं सूं?''

मैं ख्यालों में डूब जाता हूं. क्या राजनीति कर रहा हूं भला? कृष्णा सरेआम गपड़-गपड़ कह देती है, मैं चाहे कहता नहीं पर सोच तो बड़ी शिद्दत से रहा हूं...साथ ही कोशिश भी कर रहा हूं कि डी.सी. बन जाऊं. रुपए जितने चाहे लग जाएं बापू फूंकने के लिए तैयार है. एक डी.सी. किसी भी लड़की से शादी करे, कौन रोक सकता है? डी. सी. तो बल्कि कोर्ट के आदेश पर स्वयं दूसरों को सुरक्षा मुहय्या करवाता है.

फिर सोचता हूं, राजनीति से कोई सरल काम है ही नहीं...गांव के पंच, सरपंच से लेकर जहां तक चाहो पहुंचा जा सकता है. आजकल तो अंधी पीसने वाली बात है. कई तो बिना चुनाव लड़े ही राज करते चले आ रहे हैं. राजनीति में आने के बाद तो यूं भी आदमी छुट्टा सांड़ हो जाता है. और समर्थ आज कुछ भी कर सकता है. तुलसीदास ठीक ही कह गए हैं, 'समर्थ को नहीं दोष गुसाईं.'

'यह सब तो ठीक है पर आम आदमी के भी तो कुछ अधिकार हैं ही...?'

एक दिन संविधान में अंकित अधिकार और कर्तव्यों पर बात चल रही थी तो कृष्णा पूछ बैठी, ''जानते हो, अपने मौलिक अधिकार क्या हैं?''

मैंने उसे अधिकारों की पूरी रटी-रटाई लिस्ट गिना दी, ''देखो, हम लोगों को कितने ढेर सारे अधिकार मिले हुए हैं...खुश?''

वह रत्ती भर खुश नहीं हुई. उल्टा कहने लगी, ''क्या जीने का अधिकार भी? सचमुच?''

''लो! भला यह भी कोई बात हुई? अधिकार को लेकर क्या चाटना है, अगर जीवन में जीने लायक कुछ हो ही नहीं?'' कई बार जिह्वा पर वही आ जाता है जो मन में हो.

''जिंदगी बहुत हसीन है चौधरी साहब!'' और फिर कुछ सोचकर खुशी से चिहुंक उठी, ''निःसंदेह...!''

उस दिन ताऊ भी बहुत खुश था. वजह, बकौल ताऊ उस दिन उसने सुना था कि देश की सबसे बड़ी अदालत ने आदेश दिया है कि सरकार सारे भूखे गरीबों को मुफ्त अनाज दे.

''के लागै सै ताऊ, मिलेगा हर भूखे पेट को अनाज?''

"मिलेगा क्यों नहीं? इतणा अंधेर तो नहीं वापर्‌या अभी?"

"फिर कितणा अंधेर वापर्‌या सै, ताऊ?" मैंने उसी के लहजे में पूछा लेकिन ताऊ ने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया.

मैं बड़ी शिद्दत से ताऊ के जवाब की प्रतीक्षा करने लगा. जोगी चाहे किसी वर्ग विशेष का आदर्श प्रतिनिधि तो नहीं था, फिर भी मैं चाहता था कि वह इस विषय पर खुलकर बात करे, कुछ तो कहे. ऐसा भी नहीं था कि वर्तमान में जब निम्न मध्यमवर्ग को सियासी कोलाहल द्वारा किसी अन्य दिशा की ओर मोड़ा जा रहा था तो आस की कोई किरण ही शेष न बची हो. बल्कि मुझे तो लगता था कि यही वे लोग हैं जिनका महत्त्व अब बढ़ गया है. जिस वर्ग से मैं आता हूं उसकी पॉल्टिक्स अब बीतने वाली है. अब या तो ये रहेंगे या वे...उच्च वर्ग वाले. हम बीच वाले तो...! गए भाया!

मेरी आंखों में अभी भी तैर रहे सवाल को देखकर जोगी ताऊ स्वयं से ही बोला था, "खुले आसमान तले जगह-जगह पड़ा सड़ रहा है ढेरों अनाज...गरीब-गुरबा अगर साहस जुटा ले तो कौन रोक सकता है उसे? लोग जागें तो सही...क्या लगता है तुम्हें?"

यह जोगी ताऊ का जोश ही था या विश्वास कि उसने सवाल को सवाल में बदल दिया था.

"ठीक सै ताऊ, हम लोग उस दिन एक साथ बैठ कर दाल-फुल्का खाएंगे... जिंदा रहियो!" यह बात मैंने तो हल्के-फुल्के अंदाज में ही कही थी पर ताऊ गंभीर हो गया, "राजनीति खेलने के लिए चाहे तुम मेरे साथ जरूर खा सकते हो, बल्ली! मेरी झोंपड़ी में रात भी बिता सकते हो पर..." वह एक-एक शब्द चीथ-चीथकर बोल रहा था. जैसे सांप का जहर उतार रहा हो.

घर पहुंचा तो कृष्णा आई बैठी थी. मैंने तो अभी सामान्य सुख-सांद भी नहीं पूछी थी कि वह बोल पड़ी, "मैंने फैसला कर लिया है."

"फैसला?" मुझे एकदम झटका-सा लगा, "आत्महत्या को फैसला कहते हैं? सयानी बनो."

"तुम जो हो न सयाने." यह बात उसने मुझे इस अंदाज में कही कि मैं असहज हो उठा.

फिर कहने लगी, "कोर्ट किसलिए है? फिर भी अगर अधिकार न हासिल हुए तो छीन लेंगे. यह इक्कीसवीं सदी है." वह दहाड़ रही थी.

मैं सचमुच सयानों की तरह सोचने लगा. उधर जोगी, इधर यह! कुछ संस्था-संस्थान ऐसे हैं जिन पर दलित-दमित-बेसहारों को अब भी विश्वास है. शायद यही वजह है कि यथास्थिति बनी हुई है. यह विश्वास टूटना ही चाहिए, चाहे प्रतीकात्मक रूप में ही सही. पर इसका एक पहलू यह भी है कि जब ऐसे लोगों का विश्वास टूटता है तो वे भी तब तक टूट चुके होते हैं. और फिर व्यवस्था के लिए तो सांप भी मर गया और लाठी भी नहीं टूटी वाली बात हो जाती है. यहीं पर सही सोच, सही दिशा-निर्देशन की जरूरत होती है जोशीलों को.

प्रश्न उठ खड़े हुए हैं, पुलिस उन्हें लड़के के गांव क्यों लेकर गई? क्या उसे अंदेशा नहीं था कि अब यह गांव ही नहीं पूरी खाप की इज्जत का सवाल बन गया है? उन्होंने विषपान कैसे किया, क्यों किया और जब दोनों ने एक साथ विषपान किया था तो लड़की कहां है? प्रश्न तो यह भी उठ रहा है कि कुतिया चोरों से क्यों मिल गई?

पर इससे पहले मैं अपनी उस सोच से खुद को असंपृक्त कर लेना चाहता हूं जिसके तहत मैं डी. सी. बनकर इंकलाब लाने के बारे में प्रायः सोचता रहा हूं. अजीब बात है न, क्या सोचता रहा हूं?

फिर पल भर के लिए उस सोच को झटककर देखता हूं तो एक कोलाज सामने है...एक ही नक्शे में इंडिया और भारत... एक विशाल चौराहा...सोलवीं और इक्कीसवीं सदी के बीच की खाई को पाटने के लिए सर्पाकार फ्लाईओवर...भयंकर बेरोजगारी के कंटीले पथ...प्रेम के फंदों से झूलती जवानियां ...खाप पंचायतों में लहराते थोथी इज्जत के तुर्रे...हुक्कों के धुएं में धुंधलाते तर्क...वोटों के लिए बिछी बिसातें...बहुत कुछ गड्डमड्ड.

कोई मुकम्मल तस्वीर उभरती नजर नहीं आई तो, "कोई कदम उठाने से पहले तुम डी. सी. बन जाती...चंगी-भली पढाई चल रही है..." मैं इतना भर कह पाया था.

"फिर क्या हो जाएगा?" उसने तुरंत प्रश्न किया. उत्तर न पाकर कृष्णा हौले-से, पर पुरयकीन आगे बोली, "जानते हो, डी. सी. व्यवस्था बनाए रखने वाले एक पुर्जे से अधिक कुछ नहीं होता?"

बेशक न कुछ होता हो. आर-पार के इस समय में मुझे ऐसी बातों से कुछ लेना-देना नहीं था. यूं भी मैं स्वयं अपनी समझ से बाहर होता जा रहा था. वास्तव में इन दिनों मेरे मन में जोगी और कृष्णा जैसा बनने की इच्छा जागृत होने लगी थी. यही इच्छा मैं प्रकट करना चाहता था. लेकिन कह बैठा, "मैं भी कुछ बनने की कोशिश कर रहा हूं..." तो वह मेरी आंखों में आंखें डालकर देखने लगी. फिर उसी तरह आहिस्ता से बोली, "फिर कनपटियों पर पसीना क्यों चुहचुहा आया है?"

मैं झेंप गया. वह हंस पड़ी और, "मजाक करूं थी, मोहल्लड़!" कहते हुए मेरे कंधे पर थाप दे मारी.

"मतलब...थोड़ा रुक जाती," मैं सचमुच गंभीर था, "जब तक खाप पंचायतों को रेग्यूलेट करने वाला कोई कानून बन न जाए...?" मैंने खाप पंचायतों की बात कह तो दी लेकिन लगा भीतर से डर रहा होऊं कि मेरे बाप की हवेली की परंपरावादी दीवारें कहीं दरक न जाएं.

"के? रेग्यूलेट?" कृष्णा के चेहरे पर एक व्यंग्यात्मक स्मित उभर आई.

"कितना तो मंथन हो रहा है मीडिया में...कोर्टों में...हर जगह..."

"देख्यो कित्ते गफलत में मार्‌य्या जावै! टैम घणा कसूता सै मेरे मासूम हीरो!"

कृष्णा आज फिर अपने उसी पुराने रूप

में थी जिसे मैंने एच. ए. यू. हिसार के कबड्डी मैच के दौरान देखा था.

''हाय ओय तेरी जांघें...!'' कृष्णा रेड करने आई तो एक मनचला फब्ती कस बैठा था.

कृष्णा तो कबड्डी खेलना छोड़कर उस हट्टे-कट्टे नौजवान के सामने जा खड़ी हुई. कमर पर दोनों हाथ रखकर बोली, ''घणा लंगोट पाटण नै होर्‌या सै तो ओड़ै दीवार की ओट में जा कै डूब ले!''

वह तो जहां था वहीं गड़ा रह गया. डूबना-तैरना तो दूर, कुछ कहने-करने की होश भी न रही थी.

''मेरे भाई के साळे! धरती कोयना पाटी के ईब ताईं...?'' उसे भौचक्क खड़ा देख कर ललकारते हुए उसकी ओर ऐसे बढ़ी कृष्णा जैसे रेड पर जा रही हो. सब सन्न! किसी के भी लंगोट खोलने-बांधने की कोई समस्या ही नहीं बची थी. एक ललकार से ही हुड़दंग मचाने वाले सब तमाशबीन जैसे खस्सी हो गए हों.

उस लड़के ने वहां से तीतर होने में ही भलाई समझी. स्टेडियम की दीवार फांद गया, जिस पर सरकारी स्लोगन लिखा हुआ था—लड़की नहीं बचाओगे, तो बहू कहां से लाओगे!

'मेरे भाई के साळे?' विचित्र दास्तां है यह भी. दरअसल कृष्णा का कोई भाई तो था ही नहीं. इसके जन्म के बाद मां के कोई लड़का पैदा हुआ नहीं और लड़की कोई पैदा होने नहीं दी गई. संभवतः इसी तरह अल्ट्रासाउंड ने उस लड़के की भी कोई बहन न जन्मने दी हो. सो बड़ा विचित्र है हमारे समाज का गाली-शास्त्र.

कृष्णा चली गई. मैं उसकी तंदुरूस्त चाल तब तक देखता रहा जब तक वह आंखों से ओझल नहीं हो गई.

मेरे मन से वह बेशक कभी ओझल नहीं हो सकी, पर फिर कभी भी उससे मेरा आमना-सामना नहीं हुआ. जो कुछ भी घटित हुआ उसका सच-झूठ मैं मीडिया के माध्यम से ही जान पाया था. मीडिया जो आजकल

स्वयं मुद्दई, खुद गवाह और खुद ही जज और वकील है.

टेलीविजन खोला तो खाप पंचायत द्वारा जारी किए गए फतवे की खबर ब्रेकिंग न्यूज के बतौर चल रही थी. लड़की-लड़के के लिए मृत्यु-दंड, उनके घर का हुक्का-पानी बंद और तत्काल गांव छोड़ देने का आदेश.

खबरों में छन-छनकर सच सामने आने लगा था. कुल मिलाकर यह कि खाप पंचायत ने प्रेमी जोड़े द्वारा आर्य समाज मंदिर में रचाए गए विवाह को अस्वीकार कर दिया था. तत्पश्चात वे भागकर चंडीगढ़ पहुंचे न्याय की शरण में. उनके द्वारा सुरक्षा हेतु दिए प्रार्थना-पत्र को हाईकोर्ट ने पुलिस को रेफर कर दिया. और हमारी धाकड़ पुलिस की मुस्तैदी के बारे में तो हमें पता ही है.

टी.वी. बंद कर मैंने कम्प्यूटर खोल लिया. इंटरनेट पर खाप पंचायतों के बारे जानकारियां तलाशने लगा. खाप पंचायतों का इतिहास, समाज में योगदान और तानाशाह परंपरा की व्युत्पत्ति से लेकर अब तक की स्थिति...

फिर मैं बिच्छुओं के बारे में सर्च करने लगा. दुनिया में इतने प्रकार के बिच्छू? विषाक्त? प्राणियों के प्राण में पीड़ा भर देने वाले. बिच्छू मुझे डंक मारने लगे. फिर सांपों के बारे में. आस्तीन के सांप भी? कतई गदर सै भई! यह सब मेरे मन-मस्तिष्क पर इस कदर क्यों छाए रहने लगे हैं?

कम्प्यूटर शट डाउन कर मैंने फिर टेलीविजन ऑन कर लिया. समाचार बदल चुका था. छोरा-छोरी ने विषपान कर लिया था. हास्पिटल ले जाते हुए लड़के की मौत. अपुष्ट सूत्रों के हवाले से खबर आ रही है. एक अन्य चैनल उवाच, लड़के के शरीर पर चोट के निशान भी हैं.

ताऊ कहा करता है, ''...और भोग के पश्चात नर बिच्छू की मौत हो जाती है.''

प्रश्न उठ खड़े हुए हैं, पुलिस उन्हें लड़के के गांव क्यों लेकर गई? क्या उसे अंदेशा नहीं था कि अब यह गांव ही नहीं पूरी खाप की इज्जत का सवाल बन गया है? उन्होंने विषपान कैसे किया, क्यों किया और जब दोनों ने एक साथ विषपान किया था तो लड़की कहां है? प्रश्न तो यह भी उठ रहा है कि कुतिया चोरों से क्यों मिल गई? और असल मीडिया कहां है? उसे तो चाहिए कि सच दिखाए. सब जगह दलाली क्यों?

मीडिया का क्या है? खबरों से दर्शकों का पेट भरना उसका धंधा है. लेकिन जब सच न दिखाना हो तो प्रेमी सर्पों की स्टोरी... बिना ड्राइवर के चल रही कार... पहली बार कैमरे में कैद की गई भूत की तस्वीर...क्या आस रखें? कहां-कहां विश्वास करें?

अब नई न्यूज, लड़की की भी मौत...

''अनहोनी हो गई है ताऊ!'' मेरी चीख निकल जाती है, ''तेरे लोक-तत्थ झूठे पड़गे!''

ताऊ ने जरूर यही पूछना था, ''दोनों ई मरगे? दोनों क्यूंकर मरे रे भाई?''

''क्यूंकर मरे, यह छोड़ ताऊ. मर्‌या तो आज बहुत कुछ है. सवाल यह है कि,'' कभी ताऊ से पूछा हुआ सवाल फिर याद आया, ''इतने जालम कैसे हो गए हैं लोग?''

ताऊ का उत्तर भी उतनी ही शिद्दत से याद आया, ''उत्तर की ओर से कितने ही हमलावर, लुटेरे आते रहे दिल्ली पर कब्जा करने...सारे तहस-नहस करते हुए इसी

इलाके से गुजरते रहे...बार-बार हमले, जुल्म सहते-सहते पता ई नहीं चाल्या कब हमारी संवेदनशीलता मारी गई...''

ताऊ के तर्क में शायद वजन था. पर प्रश्न तो और भी बहुत उठ रहे थे...खाप पंचायतों के बारे में, समाज और संस्कृति के ठेकेदारों के बारे में, उनके कबीलाई फरमानों के बारे में, सरकार के बारे में, सरकार के सरोकारों के बारे में...उत्तर किसी के पास नहीं...सब कुछ जैसे शून्य में घटित हो रहा हो.

कृष्णा के मौत से पहले दिए बयान का अंश समाचार में आया, ''बालिग हूं. पढ़ी-लिखी हूं. अपने जीवन के बारे में निर्णय मैंने सोच-समझकर किया है. मर्यादा के विरुद्ध कोई काम नहीं किया मैंने...'' तत्पश्चात एक कमर्शियल ब्रेक.

मर्यादा बचाने के लिए अवश्य मीडिया वालों को कमर्शियल ब्रेक की बहुत भारी जरूरत पड़ी होगी.

ब्रेक के बाद चबूतरे पर आसीन लहराते तुर्रे...इर्द-गिर्द बाकायदा रजिस्टर्ड किस्म के तामाशबीनों का जुटान...हुक्कों की गुड़गुड़ ...घुटन भरा धुआं...मुझे घुटन होने लगी. जैसे किसी ने सांस-रग दबा दी हो.

टी. वी. का गला घोंटने को हुआ कि अगला समाचार नमुदार...प्रधानमंत्री द्वारा जारी बयान में कहा गया है कि गरीबों को अनाज मुफ्त नहीं दिया जाएगा...ऐसा संभव ही नहीं है.

फौरन टेलीविजन बंद कर जोगी ताऊ की ओर दौड़ लेता हूं. एकदम से खयाल आया, ''ताऊ के लिए रोटी-पानी?''

उसके यार-बेली जो उसे समय-असमय रोटी-टुक दे जाया करते थे, आज तीसरा दिन है, सब खाप पंचायत में शामिल होने रोहतक गए हुए हैं. वे संभवतः आज वापस लौट आएंगे. क्योंकि कम से कम अब हमारी संस्कृति और परंपराओं को कृष्णा और कबड्डी के उस भोले रेडर से कोई खतरा नहीं रहा.

सिवान से निकलते ही दूर झुग्गियों के आगे कीकर के तले बिछी चारपाई खाली पड़ी दृष्टिगोचर हुई.

''देखा ताऊ, प्रधानमंत्री के अर्थशास्त्र की किताब में तुम्हारे भूखे पेट के लिए कोई चैप्टर ही नहीं है!'' मेरा स्वर रुदन भरा था.

निकट जाकर देखा तो ताऊ अपनी झुग्गी के सामने घुटनों के बीच सिर दिए निष्प्राण पड़ा था. अकड़ा हुआ शरीर. झुग्गी के आगे की मिट्टी उखड़ी पड़ी थी. ताऊ जरूर भूख-प्यास से यहां तड़पड़ाया होगा. नहीं, नृत्य किया होगा...भूख नृत्य!

उल्टे पांव मैं घर की ओर भाग लेता हूं. झुग्गियों की चढ़ती दिशा की ओर कृष्णा के बाप चौधरी राम मेहर सिंह के खेत लहलहा रहे हैं. अब खेती संभालने के लिए यहां पुरबिए मजदूर नहीं, राम मेहर के ढब्बी पुलिस वाले आएंगे.

क्या जल्दी थी ताऊ, इतना भर तो देख जाते कि परंपराएं और संस्कृति कैसे बचाए जाते हैं. और नफरत की फसल कैसे काटी जाती है!

ताऊ कहा करता, ''छोहरियो, सावन-भादों में सांप-बिच्छू बहौत निकल्या करैं, संभळ के भई!''

लेकिन नादान-उच्छृंखल-खिलखिलाती छोहरियां तो इस सबसे अनभिज्ञ...एक ओर तो यह दृश्य कि कहीं उनके द्वारा गाए जा रहे सावन के गीत फिजां में गूंज रहे हैं... कहीं झूले आसमान छू रहे हैं तो कहीं नवयौवनाएं नाच-नाचकर धरती हिला रही हैं. कहीं धी-धियाणियों के कोथळी-सिंधारे भेजे जा रहे हैं तो कहीं कोई भाई अपनी नवब्याहता बहना को ससुराल से लिवाकर लौट रहा है.

दूसरी ओर, यह कैसी कुलच्छणी रूत आई कि आसमान भी दहाड़ मार कर रो रहा है. प्यार के पंछियों को गांव के बाहर खेतों में घेर लिया गया है. उनकी सिक्योरिटी में लगे पुलसियों के थुलथुल पेट भाग खड़े हुए हैं...जोगी के लोक-तत्थ झूठे पड़ गए. सुरंगे सावन में भी धरती कुम्हला गई. कैसे ऐसा गजब ढह गया कि सोचकर ही कलेजा कांप उठे!

मेरा प्रांत हरियाणा, जहां दूध-दही का खाणा, एकदम नई दिल्ली के पार्श्व में है. अतः यहां सब कुछ नया और हाइटेक ही होता है. खाप पंचायतों के फैसले भी लाइव...फैसलों का अनुपालन भी लाइव...

बौखलाया-सा घर पहुंचकर टी.वी. ऑन करता हूं. फिर-फिर वही दृश्य. ऐतिहासिक चबूतरे के इर्द-गिर्द दूर-दराज गांवों से अपने जरूरी काम-काज छोड़कर आए तमाशबीनों का भारी जुटान...लोग पेड़ों-दीवारों-मुडेरों पर चढ़े बैठे हैं. चबूतरे पर आन, बान और शान की प्रतीक पगड़ियों के लहराते तुर्रे...हुक्कों की गुड़गुड़ाहट...हुक्कों से उठता जातीय दंभ का परंपरावादी धुआं ही धुआं...

''कृष्णा! पंचायत अब भी अपने निर्णय पर अडिग है...जाति से बहिष्कार...हुक्का-पानी बंद, मृत्यु-दंड इत्यादि-इत्यादि! कहां तेरा गांव, कहां ननिहाल...फिर भी देख, कैसे मिसाइलों की तरह इतनी दूर तक मार कर जाते हैं हमारी संस्कृति के ये ठेकेदार!''

मेरा विलाप जारी है, ''वलय खाते हुए फ्लाईओवरों के ऊपर से गुजर कर इक्कीसवीं सदी अभी कैलेंडर तक ही पहुंची है, हमारी सोच तक नहीं. संविधान पर विश्वास रखने वाली भोली कृष्णा...जिसकी जिजीविषा इतनी प्रबल थी कि वह अगले जन्म में भी विश्वास करने लगी थी. खापी हुक्कों के जहरीले धुएं में सब तिरोहित हो गया रे...''

परंपरा की रक्षा में तैनात खापी तुर्रों द्वारा न दो मिनट का मौन, न किसी चेहरे पर अफसोस की रंचमात्र भी छाया!

टेलीविजन पर अचानक एक क्लोज शॉट. स्क्रीन पर मैंने देखा, पंचायत में विराजमान दादा जी ने हुक्का घुमाकर उसकी नै अपने मुंह में लगा ली है.

आकंठ भर चुका मेरा रोष एकदम फट पड़ा, ''दादा, तुम्हारा बेली जोगी मर गया है...!'' मैं बुक्का फाड़कर बताने की कोशिश करता हूं लेकिन गले से स्वर के स्थान पर रुदन निकलता है.

क्या मेरा यह रुदन जोगी के लिए था?

❐

रोमांच और रोमांस की तलाश में भटकती युवा पीढ़ी

साधना अग्रवाल

परख

रजनी गुप्त का सद्यःप्रकाशित उपन्यास 'नए समय का कोरस' आज के युवाओं की जिंदगी के उतार-चढ़ाव को सामने लाता है. नेहा और उसके स्कूल-कॉलेज के कुछ दोस्त अपनी भागमभाग जिंदगी से कुछ पल निकालकर मिलते हैं और अपने-अपने हिस्से के सुख-दुख को साझा करते हैं. ऊपर से चमकने-दमकने वाले कॉरपोरेट संसार की परतें एक-एक कर खुलने लगती हैं तो लगता है कि आखिर भौतिक सुख-सुविधाओं को पाने के लिए हमने क्या-क्या खो दिया है. पैसा तो बहुत है लेकिन समय नहीं. तब सवाल उठता है कि फिर असंतुष्टि का कारण क्या है? हर कोई परेशान नजर आता है. कोई अपनी ऊंची तथा व्हाइट कॉलर जॉब से परेशान है तो किसी को समय की कमी. हद तो तब हो जाती है कि नौकरी के सिलसिले में पति-पत्नी को स्काइप पर बात करके काम चलाना पड़ता है.

शिक्षा पूरी करने के बाद सभी का लक्ष्य अच्छी नौकरी पाना होता है क्योंकि हम यह मान लेते हैं कि सब कुछ पैसा है. जब पैसा हाथ में हो तो सब कुछ पाया जा सकता है लेकिन जब पैसा हाथ में आता है तो पता लगता है कि उस पैसे को खर्च करने का ही समय नहीं है क्योंकि इस चक्कर में अपनी कोमल संवेदना के लिए स्पेस भी तो खोती जा रही है ये पीढ़ी. दरअसल हम एक ऐसे मशीनीकरण के युग में जी रहे हैं जहां हमारे हाथ से धीरे-धीरे मनुष्यता रेत की भांति फिसलती जा रही है और हम कुछ नहीं कर पा रहे. केवल विवशता, लाचारी, कुंठा, तनाव, थकान, अकेलापन जैसी तमाम चीजें हम जी-तोड़ मेहनत करके यदि प्राप्त कर रहे हैं तो ऐसी उन्नति के क्या मायने? उनके खुश दिखते चेहरों के भीतर छिपी कड़ुवाहटें धीरे-धीरे बाहर दिखती जा रही हैं जिसमें शुमार हैं उनके रोजमर्रा के सुख-दुख. कामयाबी की ऊपरी चमक के भीतर जीवन की अंदरूनी हकीकतें कितनी बदशक्ल हो सकती हैं, इसका अंदाजा लगाना आसान नहीं है.

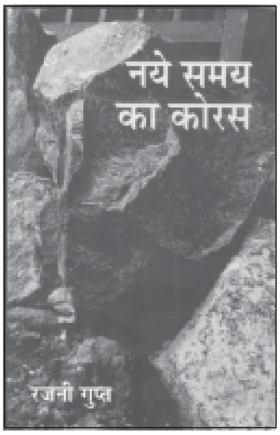

सूचना क्रांति के विस्फोट से हम इस भ्रम में रहते हैं कि पूरी दुनिया हमारी मुट्ठी में है. यही कारण है कि आज के युवा गूगल खोलकर अनजानी दुनिया में गोते लगाते हुए फेसबुक या व्हाट्सअप पर चैटिंग कर रहे होते हैं. इनमें से चंद ऐसे लड़के-लड़कियां भी हैं जिनकी नजरों में कंपनी के दिए टारगेट हासिल करना सबसे बड़ा, सबसे जरूरी व सबसे बड़ी प्राथमिकता बन जाता है और वे सबके सब किसी भूत-पिशाच की तरह बड़े आराम से रात के 3-4 बजे तक जागते रहते हैं. उनके लिए देर रात तक जागना नार्मल बात होती है. मुश्किल से 4-5 घंटे की नींद के बाद सुबह होते ही ऑफिस जाने की हड़बड़ी में नाश्ता करने की भी फुर्सत नहीं. इसलिए एक हाथ में सैंडविच और दूसरे में कॉफी का मग होता है.

नेहा की जिंदगी में दिव्यांश आता है जो अपने माता-पिता के अलगाव के कारण परेशान रहता है. उसके पिता ने 20 साल छोटी लड़की से शादी करके उसकी मां को धोखा दिया था जिस कारण वह अपने पिता से नफरत करता है. वह कहता है, 'नेहा, यहां हम सब अकेले हैं, यहां कोई किसी के लिए ठहरकर नहीं सोचता, सब रिश्ते-नाते झूठे हैं, नकली हैं, पाखंड हैं.'

लेखिका ने इस ओर संकेत किया है कि आज की युवती को शादी एक झंझट लगने लगा है. नेहा की मां जब उससे शादी की बात करती हैं तो नेहा कहती है, 'यार, ये जिंदगी अब रास आने लगी है. न कोई रोक-टोक, न डिस्टरबेंस, और न दस तरह के झमेले...अरे वही, रसोई से लेकर बेबी संभालने तक, कांट अफोर्ड? वैसे मैं ढेर सारी सुविधाओं का लुत्फ उठा रही हूं, ऐसे में शादी करके हजार बंदिशों में बंधकर खामखां रिस्क क्यों लें?' बल्कि नेहा की मां जब उसे शादी को जीवन भर का बंधन बताती हैं तो नेहा उन्हीं से

सवाल करती है, 'एकदम गलत बात. मैं नहीं मानती किसी ऐसे बंधन को कि किसी पति नामक प्राणी के लिए हम अपनी समूची जिंदगी बदल डालें या फिर ताजिंदगी आपकी तरह कदम-कदम पर समझौते करते फिरें. नो, ममा, मैं अपनी आजादी पसंद करती हूं, इसे किसी कीमत पर नहीं जाने दूंगी.'

वह स्पष्ट बताती है कि आज की पीढ़ी के लिए कौन-सी बातें मायने रखती हैं.हमारी आजादी किसी भी कीमत पर नहीं छिननी चाहिए बस, लड़के के कहे मुताबिक कठपुतली की तरह नाचना हमारी फितरत में नहीं रहा. अब हमारे लिए शादी के मायने पूरी तरह बदल चुके हैं. हां, हमारी प्रॉयरिटीज बदल गई हैं. हमारी दोस्तों का साफ कहना है कि हमारी निजता व आजादी किसी कीमत पर नहीं छिननी चाहिए, न ही लड़के की हर बात में हां में हां मिलाना हमारी फितरत में है. ममा, मेरी कलीग ने जल्दबाजी में जिस लड़के से शादी की, आजकल उसकी पर्सनल लाइफ बेहद डिस्टर्ब चल रही. डिप्रेशन का इलाज चल रहा है उसका.' क्योंकि नेहा को लगता है कि शादी करना मतलब मल्टीटास्किंग बनना है जो उसके वश की बात नहीं.

कभी-कभी यह आधुनिक पीढ़ी अपनी भागमभाग जिंदगी से उबने लगती है क्योंकि वे महसूस करते हैं, 'हमारी इस भागमभाग जीवन शैली में पुराने जमाने के नाते रिश्तेदारियां एक-एक करके छूटती जा रही हैं. इससे अच्छा तो हमारे मां-बाप का जीवन था. सच नेहा, कितना जुनून सवार था एक शानदार नौकरी पाने का मगर हम ढंग से खाने को तरस गए. एक संडे मिलता है जिसमें देर तक सोने को मन करता है फिर समय मिलते ही ईमेल चैक करना जरूरी है. नैट खोलते ही चैट करने लगते. यूं समझ लो, दुनिया हमारी उंगलियों की नोक पर सिमट आई है. सच्ची में.'

आज की पीढ़ी हर रिश्ते को प्रोफेशनल दृष्टि से देखने की आदी हो चुकी है इसीलिए तो अन्वय कहता है, 'इतना भागमभाग भरा जीवन बन गया हमारा. ऐसा लगता है, जो आज का जीवन है, वही पूरा सच नहीं बल्कि कहीं कुछ और है जिसे पाना बाकी है, कुछ और मंजिल है जिसकी तलाश में लगातार भटकते रहने के लिए अभिशप्त हैं. मगर हमें कहीं पूरी संतुष्टि हासिल नहीं है न नेहा? आजकल तो सबका सपना मनी-मनी.'

आज शादी सात जन्मों का बंधन नहीं रह गया है. यही कारण है कि आज का युवा ब्रेकअप को भी बड़ी सहजता से लेने लगा है. यही कारण है कि आज छोटी-छोटी बातों पर शादियां टूट रही हैं. कोई भी तिल भर भी झुकने को तैयार नहीं. सब की अपनी-अपनी दलीलें और तर्क. यही कारण है कि आज 10 में से 3 लोग ही संभवतः सफल वैवाहिक जीवन जी रहे हैं.

लेखिका का इस पुस्तक को 2 खंडों में बांटना समझ से परे है क्योंकि बातें वही हैं, इस पीढ़ी को समझने की, उलझनों की और नए-नए अवसरों की तलाश की या फिर स्टार्टअप कंपनी की शुरुआत की.

कुल मिलाकर यह उपन्यास आज की युवा पीढ़ी की मानसिकता को सामने लाता है. साथ ही लेखिका यह भी बताने में गुरेज नहीं करती कि ऊपर से चमचमाती कारपोरेट दुनिया भीतर से कितनी खोखली है. एक अच्छी बात यह है कि इसमें लेखिका तटस्थ होकर नई पीढ़ी की सोच को हमारे सामने रखती है. वे नई पीढ़ी के साथ-साथ तो चलती हैं लेकिन बिना किसी पूर्वग्रह के उसके द्वंद्व, उसकी भाषा, उसकी संभावनाओं को सामने लाती हैं. वरिष्ठ लेखिका ममता कालिया का उपन्यास 'दौड़' यहां मुझे याद आता है जिसमें उस मनुष्य की कहानी है जो बाजार के दबाव-समूह, उनके परोक्ष-अपरोक्ष मारक तनाव, आक्रमण और निर्ममता तथा अंधी दौड़ में नष्ट होते मनुष्य के आसन्न खतरे में पड़े मनुष्यत्व को उजागर करती हैं और हमें आगाह करती हैं कि हम उत्तर-औद्योगिक, भूमंडलीकरण और बाजारवाद की इस दौड़ में नैतिकता, मानवता और परंपरा को कितना पीछे छोड़ आए हैं तथा इस चमक-दमक वाली रंगीन दुनिया में सब नाते-रिश्ते तोड़कर न जाने कहां खो गए हैं.

यह उपन्यास हमारे लिए आज की युवा पीढ़ी को देखने, समझने, परखने का एक दरवाजा खोलता है जिसके भीतर से हम युवा पीढ़ी को, उनकी दिक्कतों को, मुश्किलों को और उनकी तमाम कठिनाइयों को समझ सकें क्योंकि हमारे मन में यह बात गहरे पैठ गई है कि आज की युवा पीढ़ी औद्योगिक-भूमंडलीकरण और बाजारवाद की इस आपाधापी में कहीं न कहीं नैतिकता और मानवीय संवेदना खोती जा रही है.

❐

पुस्तक : नए समय का कोरस
लेखक : रजनी गुप्त
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
मूल्य : 360 रुपए

संपर्क : बी-2/टी, दिल्ली पुलिस अपार्टमेंट्स मयूर विहार फेज-1, दिल्ली-110091
मो. : 9891349058
ईमेल : agrawalsadhna2000@gmail.com

नाजिम हिकमत के देश में

अंकित नरवाल

परख

हिंदी के जाने-माने लेखक, संपादक और आलोचक विनोद तिवारी का हाल ही में प्रकाशित यात्रा-डायरी 'नाजिम हिकमत के देश में' उनकी लेखकीय अभिव्यक्ति के अनेक छुपे कोनों को हमारे सामने लाती है. वैसे तो हिंदी या यूं कहें अनेक भाषाओं के अध्यापक प्रत्येक वर्ष विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में विदेशों का भ्रमण करते हैं, किंतु उनका न तो कोई यात्रा-विवरण ही मिलता है और न रचनात्मकता का कोई दूसरा ही रूप. यह तिवारी जैसे कम ही व्यक्ति कर पाते हैं, जो किसी भी लोक में उतरकर उन जगहों का भूगोलीय परिवेश भेद उन सांस्कृतिक-सामाजिक छवियों तक पहुंचते हैं, जहां जीवन अपनी तमाम खूबियों-खामियों के साथ मौजूद रहता है.

यह यात्रा-डायरी तिवारी के अंकारा विश्वविद्यालय, तुर्की में विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में गुजारे गए दो वर्षों के अनुभवों पर आधारित है. यह बाहर से देखने पर महज दो वर्ष लगते हैं, किंतु पंक्ति दर पंक्ति जब पाठक इसमें उतरता जाता है, तो उन समस्त शताब्दियों का इतिहास उसके सामने उजागर होने लगता है, जिसने वर्तमान तुर्की के निर्माण में अपनी भूमिका निभाई है. पुस्तक में एक ओर जहां पाठक एक राहगीर के सहारे तुर्की के राष्ट्रपिता मुस्तफा कमाल 'पाशा' के क्रांतिकारी व्यक्तित्व को सहेजने वाले स्मारक अतातुर्क, मकबरे अनतकबीर आदि की यात्राएं करते हुए तुर्की के निर्माण का इतिहास पढ़ते हैं, वहीं दूसरी ओर गांधी, टैगोर नाजिम हिकमत और पाब्लो नेरुदा आदि जैसी अद्भुत शख्सियतों से पुनः व नए ढंग से रूबरू होते हैं. इस यात्रा में नगरों की चकाचौंध में उलझे एक यात्री का दुराग्रह नहीं है, बल्कि एक सजग पर्यवेक्षक की आंख है, जो गांवों-कस्बों से गुजरते हुए, पर्दे के पीछे की उस छवि की शिनाख्त करती है, जिसमें आज भी लगातार स्त्री का शोषण हो रहा है.

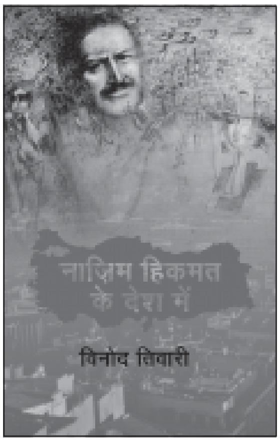

कहीं-कहीं यह डायरी महज एक यात्री के समस्त रूपों को पीछे छोड़कर एक कुशल राजनीतिक-सामाजिक विश्लेषक का रूप ले लेती है और राजनीतिक समीकरणों को टटोलते हुए इस्लामिक और योरोपीय छवि के बीच उलझे तुर्क की बेचैनी सामने लाती है. इसमें सीरिया से विस्थापित होने वाले समुदायों की तरह विस्थापितों का जीवन जीने को मजबूर कर दिए गए तमाम नागरिकों के मानवाधिकार संबंधी प्रश्न व तुर्की आंदोलन आदि के उदाहरण भी रह-रहकर सामने आते हैं.

परिशिष्ट के साथ कुल पांच अध्यायों में बंटी यह पुस्तक एक ओर जहां हमें तुर्की का अंतरंग-बहिरंग लोक दिखाती है, वहीं दूसरी ओर इस देश को देखने का ज्योग्राफिकल नजरिया भी तोड़ती है. यह समाज की अंतर्यात्राएं करते हुए वहां के दिल तक पहुंचती है. बचपन में दादी-नानी से सुने गए किस्सों के कुछ-कुछ मिथकीय से लगने वाले पात्र—मुल्ला नसरुद्दीन, राजा मिडास, मौलाना रूमी आदि की छवियां भी हमें रोमांच से भर देती हैं.

इस पुस्तक में हम अतातुर्क कमाल 'पाशा' के समस्त जीवन-संघर्ष को बहुत नजदीक से देखते हैं. हम यहां उनकी एक सामान्य सैनिक स्कूल में पढ़ाई से लेकर, सेना की प्रमुख उपाधि 'पाशा' प्राप्त करने तक की समस्त चुनौतियों को रोमांचकारी हिंदी फिल्मी घटनाओं की भांति चिपककर पढ़ते हैं. वे अनेक विषयों—गणित, भाषा, साहित्य, दर्शन, कृषि-विज्ञान, राजनीति, समाज विज्ञान, ऐल्जेबरा आदि की जानकारी रखने वाली एक खास शख्सियत के रूप में हमारे सामने आते हैं और दुनिया भर की आठ भाषाओं की समझ रखने वाले दानिशमंद बनकर हमें चकित करते हैं. इस सारे संघर्ष को दिखाते हुए यह पुस्तक पाशा का चरित लिखने का दंभ भरकर समाप्त नहीं होती, बल्कि उनके द्वारा उस्मानी साम्राज्य की राजशाही सल्तनत से और खलीफा की धार्मिक सत्ता से मुक्ति दिलाकर बनाए गए आधुनिक सेक्युलर तुर्की गणराज्य की नींव तक हमें ले जाती है. वर्तमान तुर्की में योरोपीय मानवाधिकारों को लेकर जारी कशमकश भी हमें इसके पूरे इतिहास के साथ समझ आती

है.

राजा मिडास के सहारे हम ग्रीक मिथकीय देवता डायोनिसस और सायिलेनियम की कथा समझते हैं. कथा में राजा मिडास एक ऐसा वर प्राप्त करता है, जिससे वह चीजों को छूकर सोने में तब्दील कर सके, किंतु जब खाने-पीने तक की चीजें सोने में बदलने लगती हैं तो वह परेशान होकर इससे मुक्ति चाहता है. वह पैक्तोलस नदी (सोन नदी) में स्नान कर इससे मुक्ति भी पाता है. यह कथा भारतीय पंचतंत्र और जातक कथाओं की भांति हमें फ्रेगियन सभ्यता और संस्कृति के संदर्भ में उत्साह और कौतूहल से भर देती है. भिन्न-भिन्न भौगोलिक परिवेश होने के बावजूद नाम बदलकर चलने वाली ऐसी अनेक कथाएं संस्कृतियों की गहरी जड़ों को पुनः देखने की ओर संकेत करती हैं.

तुर्की में रवीन्द्रनाथ टैगोर के प्रति लोगों का अगाध प्रेम भारतीय मनीषा पर गर्व करने का अवसर देता है. लेखक इस गर्व की तह में जाकर उन कारणों तक पहुंचने का प्रयास करते हैं, जिसके कारण यहां 'टैगोर स्ट्रीट' व 'पार्क' बने हैं. गीतांजलि के तुर्की अनुवाद और उसकी लोकप्रियता व लेखक इल्हान अकीन के उनके प्रति निम्न शब्द हमें गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा से भर देते हैं, "टैगोर दुनिया के प्रत्येक कोने में सद्भावना के महानतम और अतिप्रभावी भारतीय राजदूत हैं."

मुल्ला नसरुद्दीन के किस्से हमें तुर्की लोक में जन्मे नसीरुद्दीन होद्जा के गांव शिवरीशहर की यात्रा पर ले जाते हैं और एक साथ हम इस विशेषण से दुनिया भर में जारी सभी तर्कवादी कहानियों के उद्गम स्रोत तक पहुंच जाते हैं. तुर्की के शिवरीशहर में जन्मा यह व्यक्ति तैमूरलंग के सहारे समस्त दक्षिणी-पूर्वी एशिया, मध्य एशिया, अफ्रीका, मंगोलिया, यूरोप तक में एक लोक-चरित्र बन जाता है. यहां लेखक का एक ध्येय जहां इस चरित्र का इतिहास समझना रहा है, वहीं दूसरी ओर यहां के गांवों की सांस्कृतिक छवि को भी पहचानना रहा है. लेखक लिखते हैं, "तुर्की के कोय (गांव) भारतीय गांवों की तरह नहीं हैं. प्राकृतिक सुंदरता से भरे हुए आधुनिक सुख-सुविधाओं से संपन्न छोटे-छोटे गांव. घर-बाहर दोनों साफ-सुथरे."

तुर्की की सांस्कृतिक राजधानी अंताल्या की सुंदरता और भव्यता का इतिहास पाठकों को पेर्गियन राजा अतालोस की नगर निर्माण के प्रति अपनाई गई वैज्ञानिकता से परिचित कराता है. इसके साथ-साथ इसके समीप ही बसे पाम्फिलिया की राजधानी पेर्गे की ईसाइयत महत्ता व ग्रीको-रोमन कला व दर्शन की श्रेष्ठता भी पाठकों को कम रोमांचित नहीं करती है, बल्कि एस्पेंदोस जैसे मुक्ताकाशी थियेटर की निर्माण-कथा का इतिहास तो और भी अभिभूत करने वाला है. मंच से होने वाली फुसफुसाहट का भी आखिरी बेंच तक पहुंचना, यहां कि रंगमंचिय कला की ऊंचाई को समझने का अवसर देता है.

विश्वप्रसिद्ध नाजिम हिकमत की जीवन-यात्रा का वृत्तांत इस पुस्तक का वह हिस्सा है, जो इस लेखक के साथ-साथ इसके समकालीन लेखकों के वैश्विक नजरिए को भी सामने लाता है. पाब्लो नेरूदा, सार्त्र, पाब्लो पिकासो, ओरहान वेली, औक्ताय रिफत आदि का हिकमत की रिहाई के लिए निरंतर संघर्ष करना, पाठक को इन लेखकों के प्रति और भी सम्मान से भर देता है. हिकमत का अपने बच्चों और विधवा मां की परवाह छोड़कर वैश्विक शांति के लिए संघर्ष करना और स्वतंत्रता की मूलभूत स्थापनाओं के लिए लिखना, उन्हें देश निकाले तक के लिए मजबूर कर देता है और वे अनेक भीषण यातनाओं में झोंक दिए जाते हैं. उन्हें लगातार दिल के दौरे पड़ते हैं, किंतु फिर भी वे संघर्ष में पीछे नहीं हटते और जीवन के अंतिम समय तक शोषण के पूंजीवादी तंत्र से जूझते रहते हैं. दिल के दौरे से 1963 में उनका दुनिया से चले जाना एक गहरी वेदना से भर देता है. ऐसा लेखक सरकार द्वारा नागरिकता से जीवन-भर नदारद रखा जाता है और मृत्यु के सालों बाद 2009 में उसकी नागरिकता बहाल होती है. यह तुर्की समाज की उस सेक्युलर छवि को तोड़ता है, जिसमें लेखकीय स्वतंत्रता, प्रेस की स्वतंत्रता और अभिव्यक्ति की आजादी के प्रश्न एक सीमा के बाद देश-विरोधी श्रेणी में ला खड़े कर दिए जाते हैं. यह दूसरी ओर अतातुर्क कमाल पाशा के सेक्युलर राज्य की नींव को भी प्रश्नांकित करने लगता है.

विनोद तिवारी द्वारा तुर्की में स्त्रियों के संबंध में देखे-पढ़े गए अनेक विवरण बड़े हैरान करने वाले लगते हैं. स्त्री के लिए संघर्षरत यहां के अनेक संगठनों द्वारा जुटाए गए आंकड़े तो और भी हतप्रभ करते हैं, जिनके अनुसार यहां 15 वर्ष तक 61 प्रतिशत लड़कियों की पढ़ाई छुड़वाकर उनकी शादी करा दी जाती है और 275 संसदीय सीटों वाली सरकार में मात्र एक महिला मंत्री ही है. वे लिखते हैं, "तुर्की समाज में बाल-विवाह, घरेलू हिंसा का प्रतिशत बहुत अधिक है. राजनीतिक और सामाजिक मंचों पर स्त्रियों की भागीदारी न के बराबर है. घर के अंदर पुरुष उसे कमोडिटी के अधिक कुछ नहीं समझता." यह सारी स्थितियां पारिवारिक असुरक्षा में जीने वाली स्त्रियों के संबंध में पुनः सोचने के लिए सचेत करती हैं.

तिवारी इस यात्रा के मार्फत सीरिया के गृहयुद्ध से उपजे अनेक प्रश्नों और वैश्विक अशांति की लगातार बढ़ती संभावनाओं को भी उजागर करते हैं. सीरिया में इस्लामिक समाजवाद की कोई एक तस्वीर न होने के कारण जहां संघर्ष खूनी विरोध पर उतर आया है, वहीं हिंसा के डर से लोगों ने विस्थापित

होना शुरू किया है और वे लोग विस्थापित होकर समीप के देशों में चले गए हैं, जहां उन्हें दूसरी अनेक यातनाएं सहनी पड़ती हैं. तिवारी लिखते हैं, "अब तक 6 लाख से ऊपर लोग अपना सब कुछ गंवाकर, गांव-जमीन छोड़कर पड़ोसी देशों—लेबनान, जार्डन, तुर्की और इराक में शरणार्थी शिविरों में रहने और बदहाल जिंदगी जीने को मजबूर हैं. अकेले तुर्की में एक लाख सत्तावन हजार शरणार्थी रह रहे हैं." यह सारे आंकड़े हमें मानवाधिकार संबंधी मूलभूत प्रश्नों पर पुनः विचार करने के लिए तैयार करते हैं.

पुस्तक का अंतिम हिस्सा भी विदेश में अपनी जमीन और आबो-हवा के लेखकों को जीने और पढ़ने के अनेक उदाहरणों को सामने लाता है. लेखक का निर्मल वर्मा, अज्ञेय, गुरदयाल सिंह आदि के लिखे हुए की टीप लेना, अपनी विरासत पर पुनः विचार करने का अवसर देता है. यहीं लेखक का आंतरिक संवेदनात्मक पक्ष भी एक मक्खी के सहारे सामने आता है. विदेश में तुर्की सीखना, दोस्त बनाना तथा संग्रहालय व पुस्तक मेले देखना आदि अनेक विवरण भी पुस्तक के वे जरूरी हिस्से हैं, जो तुर्की को समझने के अनेक अवसर देते हैं. निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि लेखक के द्वारा इसमें स्मृतियों का भूतहा महल नहीं खड़ा किया गया है, बल्कि एक तहजीब को देखने-समझने की संवेदनात्मक कोशिश की गई है.

❐

पुस्तक : नाजिम हिकमत के देश में
लेखक : विनोद तिवारी
प्रकाशक : आधार प्रकाशन, पंचकूला
मूल्य : 200 रुपए

संपर्क : असिस्टेंट प्रोफेसर, रिजनल सेंटर, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़
मो. : 9466948355
ईमेल : ankitnarwal1979@gmail.com

लघुकथा

मां का संदूक

नीरज त्यागी

राम और श्याम दो भाई हैं. दोनों भाई जैसे-जैसे बड़े हुए दोनों ने अपनी मां को देखा कि अक्सर वो एक संदूक को बिल्कुल उन्हीं के समान संभालकर रखती है और हमेशा उनकी मां उस पर ताला लगाकर रखती है.

बचपन से ही दोनों बच्चों के मन में जिज्ञासा रही कि मां आखिर संदूक में ऐसा क्या रखती है जिसे वह किसी को बताना नहीं चाहती. खैर, धीरे-धीरे समय गुजरने लगा और दोनों बच्चे जो कल तक छोटे थे वह अपनी युवावस्था में पहुंच गए, लेकिन उनके मन का सवाल हमेशा की तरह वही रहा कि मां के संदूक में ऐसा क्या है जिसे वह किसी को बताना नहीं चाहती.

कुछ समय पश्चात जब दोनों भाइयों की शादी हो गई और दोनों भाइयों के बच्चे हो गए परिस्थितियां कुछ ऐसी बनीं कि दोनों बहुओं की अपनी सांस से न बनने के कारण बहुओं के दिमाग में भी हमेशा यही बात रहती थी कि सासू मां ने इस संदूक में शायद बहुत-सा पैसा जोड़ रखा है जिसे वह किसी को बताना नहीं चाहती.

राम और श्याम के बच्चे भी धीरे-धीरे बड़े होने लगे. दोनों की अपनी मां से ये तकरार हमेशा बनी रहती थी कि संदूक में क्या रखा है उन्हें दिखाए, लेकिन उनकी मां अपने दोनों बच्चों से कहती थी समय आने पर दिखा देंगी.

धीरे-धीरे समय बीत रहा था. समय के साथ अब राम और श्याम की मां एक ऐसी उम्र पर पहुंच गई कि वह बीमार रहने लगी लेकिन हमेशा की तरह उनकी मां अपने संदूक का पूरा ध्यान रखती थी और उस पर ताला लगाकर रखती थी. समय बीतने के साथ एक वक्त ऐसा आया कि उनकी मां नहीं रहीं.

अब राम और श्याम को खुली छूट थी कि वह देख सके कि संदूक में ऐसा क्या है जो उनकी मां हमेशा उनसे छिपाती थी. अभी मां को मरे हुए पांच दिन भी नहीं हुए थे कि रात के समय दोनों बहू और बेटों ने मिलकर संदूक का ताला तोड़ दिया.

संदूक खोलते ही दोनों बेटे हक्का-बक्का रह गए. संदूक के अंदर था उनका अपना बचपन, युवावस्था और उनके अपने बच्चों की कुछ यादें, ज्यादा कुछ खास नहीं था इस संदूक में—राम और श्याम के बचपन के कपड़े, कुछ फटे हुए जूते और हाथ से बुने हुए स्वेटर जो राम और श्याम ने कभी पहने होंगे.

राम और श्याम और उनकी दोनों बहुएं अपने आप से नजर नहीं मिला पा रहे थे. बचपन को उनकी मां ने एक संदूक में संजोकर रखा हुआ था. आज खुला संदूक दोनों को मुंह चिढ़ा रहा था. दोनों नजर झुकाए शर्मिंदगी से संदूक की ओर देख रहे थे. आज उन्हें महसूस हुआ कि मां ने उनके जीवन के हर बीते हुए लम्हों को यादों के रूप में संदूक में संभालकर रखा हुआ था.

❐

संपर्क : 65/5, लाल क्वार्टर,
राणा प्रताप स्कूल के सामने गाजियाबाद-201001 (उत्तर प्रदेश)
मो. : 9582488698
ईमेल : neerajtya@yahoo.in

कोरोना चिंता

तसलीमा नसरीन

शब्दवेधी/शब्दभेदी

कोरोना वायरस के बारे में बहुत से सवालों के जवाब वैज्ञानिक नहीं दे रहे हैं. वे कहते हैं यह वायरस नया है, हम अनुसंधान कर रहे हैं. हर सवाल का जवाब फिलहाल हमारे पास नहीं है. फिर भी कुछ अनुमान तो लगाया जा सकता है. क्यों दक्षिण एशिया में कोरोना से मृत्यु-संख्या यूरोप और अमेरिका से कम है? हवा में ऐसी बहुत-सी बातें तैर रही हैं. एक–बीसीजी का टीका. यहां सभी को बचपन में ही टीबी प्रतिरोधक बीसीजी का टीका लगाया जाता है. यह देखा जा रहा है कि जिन देशों में बीसीजी का टीका दिया जाता है, उन देशों के लोग कोरोना से आक्रांत होने के बावजूद, वहां मरने वालों की संख्या और तमाम देशों से कम है. दो–यूरोप और अमेरिका में कोरोना वायरस ए और सी का संक्रमण है, जबकि अफ्रीका और एशिया में कोरोना वायरस बी का है. वजह चाहे जो भी हो लेकिन यह बी वायरस, ए और सी की तरह भयानक नहीं है. तीन–दक्षिण एशिया में युवाओं की संख्या यूरोप और अमेरिका से कहीं ज्यादा है. वयस्कों के मुकाबले उनमें रोग प्रतिरोधक क्षमता अधिक है. हो सकता है वे इस वायरस से संक्रमित हो रहे हों लेकिन वे ठीक भी हो रहे हैं. क्या गर्म आबोहवा होने की वजह से यह रोग यहां कम फैल रहा है? वैज्ञानिकों ने इस संभावना को नकार दिया है. अनुसंधान भी चल रहा है और उधर वायरस भी जल्दी-जल्दी विवर्तित हो रहा है, इसलिए किसी भी सवाल का सही जवाब मिलना फिलहाल नामुमकिन है.

कोविड-19 से दक्षिण एशिया में इस चरण में यदि ज्यादातर लोग बच भी जाएं तो वायरस के अगले आक्रमण में कितने बचेंगे कहा नहीं जा सकता. जो वैज्ञानिक इस वायरस की गति-प्रकृति को भली-भांति जानते हैं उन्होंने वायरस के अगले आक्रमण से तैयार रहने को कहा है. अगला आक्रमण इससे कहीं ज्यादा भयानक होगा. पहले महायुद्ध में एक लाख सोलह हजार लोग मरे थे और कोरोना वायरस से एक लाख सतत्तर हजार आठ सौ लोगों की मौत हो चुकी है. यह कुछ भी नहीं, वैज्ञानिक एवं अन्वेषक कह रहे हैं हमने अब तक कोरोना वायरस का असली चेहरा नहीं देखा है. अगले चरण में वायरस अपना और भी वीभत्स चेहरा दिखाएगा. इतनी रफ्तार से यह वायरस बार-बार विवर्तित हो रहा है कि अन्वेषक आशंका कर रहे हैं, इन्फ्लुएंजा की तरह यह वायरस भी हर साल किसी न किसी वक्त आया करेगा. इस बार अमेरिका ने जो तबाही देखी है, आने वाले सर्दी के मौसम में उसे इससे भी बड़ी तबाही झेलनी पड़ेगी.

मुझे यह देखकर डर लग रहा है कि सभी देशों के लोग अपनी पुरानी जिंदगी में लौट जाने के लिए किस तरह अधीर हो रहे हैं. वे अब घर में बैठे रहना नहीं चाहते. अर्थनैतिक व्यवस्था चरमराने को है, बेकार लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है, उत्पादन बंद है, कारखाने बंद हैं. सरकार पर सब कुछ खोल देने का दबाव बढ़ता जा रहा है. लॉकडाउन तो खोलना पड़ेगा, अब हमें वायरस के साथ ही जीना पड़ेगा, जो मरेगा–मरेगा, जो बचेगा–बचेगा थियोरी के अनुसार. लोग वायरस से मरने का जोखिम उठाने को तैयार हैं, लेकिन अनाहार, भुखमरी का जोखिम उठाने को कतई तैयार नहीं. बूढ़े लोगों को बचाने के लिए जो तर्क युवाओं को दिया जा रहा था, शायद युवावर्ग अब उस तर्क को मानने के लिए राजी नहीं. जो मर रहे हैं वे अपने परिवार-परिजनों को देखे बिना ही मर रहे हैं. सुना है परिवार-परिजन अंतिम संस्कार के लिए भी नहीं जा रहे हैं. सरकारी कर्मचारी ही अंतिम संस्कार कर रहे हैं.

क्या हम सच में कभी अपनी पुरानी जिंदगी में लौट सकेंगे? वैज्ञानिक कह रहे हैं नहीं, अब बिल्कुल अलग तरह की जिंदगी जीनी होगी. सोचकर ही मन कांप उठता है. विमान, ट्रेन, बसों में सफर करना, दर्शनीय स्थानों में घूमने जाना, गांव-शहरों में आना-जाना, सिनेमा-थिएटरों में जाना, रेस्तरांओं में खाना, भीड़-भड़क्के वाले बाजारों में जाना, शादी, पार्टी, कॉन्सर्टों में शामिल होना, क्या यह सब बस यादों के एल्बम में ही कैद रह जाएगा? वापस हमारी जिंदगी में नहीं आएगा? सौहार्द्र जताने के लिए शारीरिक निकटता की जरूरत है. लोग दूर से कैसे प्रेम प्रकाश करेंगे? तो क्या लोग प्यार-मुहब्बत नहीं करेंगे, मां अपने बच्चे को लिपटाकर प्यार नहीं करेगी, दोस्त आपस में गले नहीं मिलेंगे, हाथ नहीं मिलाएंगे? मनुष्य जीवन

से क्या सचमुच एक-दूसरे को छूना, चुंबन लेना, आलिंगन करना सब खत्म हो जाएगा? कुछ पता नहीं. वैज्ञानिक आशा जताने लायक कुछ भी नहीं कह रहे हैं. उनका कहना है कम से कम 2022 तक लोगों को दूरी बनाए रखना यानी सोशल डिस्टेंसिंग का पालन करना होगा. हो सकता है यह सर्वनाशी वायरस दुनिया से विदा ही न हो और 2022 नंबर बदलकर 2033 या 2044 तक मामला खिंच जाए. आपस में दूरी रखते-रखते हो सकता है लोग एक समय में अकेले रहने के अभ्यस्त हो जाएं. जो इस नियम को नहीं मानेंगे वो मर जाएंगे. हो सकता है पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे वायरस के आक्रमण से दुनिया की आधी जनसंख्या या उससे भी ज्यादा खत्म ही हो जाए.

विश्व स्वास्थ्य संगठन का कहना है, अर्थनैतिक व्यवस्था को चालू करने के लिए पहले सबकी जांच करनी होगी, हां हरेक की करनी होगी—780 करोड़ जनता की. किसके शरीर में वायरस है या नहीं यह देखना जरूरी होगा. वैज्ञानिकों ने तो अमेरिका को कह दिया है, यदि शहर-बंदर खोलना ही चाहते हो तो हर दिन पांच लाख टेस्ट कराओ, जिनके शरीर में वायरस मौजूद है उन्हें अलग करो. लेकिन हमें नहीं पता आगे क्या होने जा रहा है. कहा जा रहा है यह वायरस और भी खतरनाक तरीके से हमला करेगा. यह सुनकर मैं सोचती हूं, इससे बड़ा आघात और क्या हो सकता है कि हर दिन हजारों लोग मर रहे हैं, लोगों की सांसों से वायरस फैल रहा है, वायरस संक्रमित किसी भी जगह हाथ स्पर्श हो जाए तो हाथ में वायरस आ जाता है और फेफड़ों में घुसकर उन्हें अक्षम कर देता है. हृदपिंड बंद कर देता है, मस्तिष्क में क्षरण घटाता है. इससे ज्यादा खतरनाक, जानलेवा, मृत्युमय तो और कुछ नहीं हो सकता है. फिर सोचती हूं, इससे भी ज्यादा भयानक बस एक ही चीज हो सकती है, अगर वायरस हवा में तैरने लगे, ऐसा हुआ तो मनुष्य प्रजाति का विलुप्त जो जाना तय है.

मैं अकेली गृहबंदी अवस्था में जीवन जी रही हूं, साथ में मेरी पालतू बिल्ली है. इस तरह खिड़की-दरवाजे बंद रख कोई इंसान कितने दिन तक जिंदा रह सकता है? ऐसे जीवन में आनंद नहीं, सिर्फ बचे रहना है. बचे रहने के लिए जिस तरह वायरस किसी भी परिस्थिति में पलटकर खुद को जिंदा रहने के योग्य बना लेता है, इंसान भी ऐसे ही होते हैं, तभी तो इतने दुर्योग, आपदाओं में भी आज तक टिके हुए हैं. मैं सोच रही हूं टीका लेने वाले दिन ही अपने घर का दरवाजा खोलूंगी, उससे पहले नहीं.

अब मनुष्य वायरस के साथ युद्ध के मैदान में आमने-सामने है. कौन हारेगा और कौन जीतेगा किसी को नहीं पता. वैसे सम्मिलित रूप से कोशिश करने से इसे जल्दी हराना संभव है, लेकिन ऐसा हो नहीं रहा है. अमेरिका चीन को दोषी ठहरा रहा है, चीन अमेरिका को. अमेरिका ने बता दिया है, वह विश्व स्वास्थ्य संगठन को पैसा नहीं देगा. उधर चीन ने अपना लिक्विड मार्केट फिर से खोल दिया है, वो बाजार, विश्व स्वास्थ्य संगठन के मुताबिक, जहां से यह वायरस फैला था. क्या विश्व स्वास्थ्य संगठन ने उस बाजार को बंद रखने के लिए चीन को कहा है? नहीं. क्यों नहीं कहा यह किसी को पता नहीं. ऐसे दुःसमय में ऐसी राजनीति, लोगों को जहर खिलाकर मारने के बराबर है. यूरोपियन यूनियन के बारे में पता था कि वह यूरोप की भलाई के लिए हमेशा तत्पर रहता है. मुसीबत में यूरोप का एक देश दूसरे देश के साथ खड़ा हो जाता है. लेकिन इटली और स्पेन में जब यह हत्यापर्व शुरू हुआ, तब यूरोप के कितने देश मदद के लिए सामने आए? जिस वक्त राष्ट्रीयता को भूलकर विश्व के एक हो जाने की बात थी, परस्पर सहयोगिता करने की बात थी, उस वक्त देश आपस में लड़ाई-झगड़ा करने में लगे हुए हैं. इस चरम दुर्दिन में कोई भी नेता हाल संभालने को तैयार नहीं, कोई नहीं है उम्मीद बंधाने के लिए, आश्वासन देने के लिए. तमाम देश विच्छिन्न रूप से वायरस के कब्जे से बस अपनी रक्षा करने में जुटे हुए हैं. वैज्ञानिक भी अलग-अलग देशों में अलग-अलग तरीकों से अनुसंधान कर रहे हैं. लेकिन इस मारक वायरस को रोकने के लिए सभी देशों को एक साथ मिलकर काम करना होगा. सभी वैज्ञानिकों को एक साथ मिलकर दवाई और टीके का आविष्कार करना होगा. ऐसा न होने से हम एक चीज और ज्यादा से ज्यादा देखते रहेंगे—इंसानों की मौत. यह महामारी अगर पूरी दुनिया को एक नहीं कर सकी, तो कुछ नहीं हो पाएगा.

❐

बांग्ला से अनुवाद—अमृता बेरा
ईमेल : amrujha@gmail.com

हंस के एजेंट बनें

आपके शहर में भी हंस सुगमता से उपलब्ध हो इसके लिए आप हंस की एजेंसी प्राप्त कर सकते हैं.
वीपीपी द्वारा हंस (25 प्रतिशत छूट लेते हुए) मंगवाने के लिए अपना ऑर्डर अग्रिम भिजवाएं. डाकघर में प्रस्तुत करने के लिए ऑर्डर की यह प्रति अनिवार्य है.
ऑर्डर के लिए लिखें या संपर्क करें :

अक्षर प्रकाशन प्रा. लि.
2/36, अंसारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली-110002
दूरभाष : 23270377, 41050047
मो. : 9810786725, 9871809592
ईमेल : editorhans@gmail.com
वेबसाइट : www.hanshindimagazine.in

सदस्यता प्रपत्र

मूल्य : रु. 40/- प्रति

व्यक्तिगत सदस्यता–देश

(अ) वार्षिक : रु. 400/- साधारण डाक द्वारा
रु. 700/- रजिस्टर्ड डाक द्वारा
(ब) आजीवन : रु. 10000/- साधारण डाक द्वारा
रु. 17000/- रजिस्टर्ड डाक द्वारा

व्यक्तिगत सदस्यता–विदेश

(अ) वार्षिक : रु. 4000/- (समतुल्य स्थानीय मुद्रा) साधारण डाक द्वारा
(ब) आजीवन : फिलहाल उपलब्ध नहीं

संस्थागत सदस्यता–देश

(अ) वार्षिक : रु. 600/- साधारण डाक द्वारा
रु. 900/- रजिस्टर्ड डाक द्वारा
(ब) आजीवन : रु. 15000/- साधारण डाक द्वारा
रु. 22000/- रजिस्टर्ड डाक द्वारा

संस्थागत सदस्यता–विदेश

(अ) वार्षिक : रु. 6000/- (समतुल्य स्थानीय मुद्रा) हवाई डाक द्वारा

व्यक्तिगत ☐ **संस्थागत** ☐ **देश** ☐ **विदेश** ☐

नाम : ....

पता : ....

शहर..................................राज्य............................देश........................पिन.................................

दूरभाष...मो. ....

ईमेल ....वेबसाइट..

सदस्यता अवधि

1 वर्ष ☐ **2 वर्ष** ☐ **3 वर्ष** ☐ **4 वर्ष** ☐ **5 वर्ष** ☐ **आजीवन** ☐

PAYMENT METHOD

Online Transaction : **Vijaya Bank,** Ansari Road
C/- : 601700300001362, **IFSC Code :** VIJB0006017, **SWIFT No. :** VIJBINBBRFC
Cheque/Draft : In Favour of **Akshar Prakashan Pvt. Ltd.**

मनीऑर्डर/चैक निम्नलिखित पते पर भेजें :
अक्षर प्रकाशन प्रा.लि. 2/36, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
दूरभाष : 011-23270377, 41050047
ईमेल : **editorhans@gmail.com** वेबसाइट : **www.hanshindimagazine.in**

उपलब्ध है

हंस

विशेषांक

सितंबर 2018

नवाचार के जनाचार

अतिथि संपादकः रविकान्त, विनीत कुमार

मेमरी ड्राइव : आदिकाल

विजेन्द्र सिंह चौहान, रवि रतलामी, डॉ. प्रकाश हिन्दुस्तानी, अनूप शुक्ल, संगीता कुमारी, ललित कुमार, बालेन्दु शर्मा दधीच, वरुण ग्रोवर

इमॉटिकॉन : छवि-भाषा

अपराजिता शर्मा, अनिमेष मुखर्जी, सुशील, अमरेंद्र नाथ त्रिपाठी, ओम थानवी

डिजिटल डेमॉक्रैसी : वायरल जनतंत्र

रवीश कुमार, सुदीप्ति, दिलीप ख़ान, पुष्यमित्र, निक्की तिवारी, संजीव सिन्हा, अटल तिवारी, लक्ष्मण यादव, रोहिन कुमार

हैशटैग : अस्मिता विमर्श

नीलिमा चौहान, सुधा उपाध्याय, डॉ. रमा, संजीव चन्दन, अनिल चमड़िया, डॉ. रतन लाल, ए. के. पंकज, अखिलेश्वर पांडेय

डू इट योरसेल्फ़ : रोज़मर्रा की रियाज़त

अनुराधा बेनीवाल, पवन के. श्रीवास्तव, आशिमा कुमारी, श्रीमंत जैनेन्द्र, तनु शर्मा, गिरीन्द्रनाथ झा, अपूर्वानंद

इंटरमीडिया : संगम माध्यम

यूनुस ख़ान, इरफ़ान, अमितेश कुमार, शशिभूषण द्विवेदी, अतुल चौरसिया, रविकान्त, मिहिर पंड्या, अजय ब्रह्मात्मज

टाइमलाइन : भविष्य

विराग गुप्ता, अजय शर्मा, आलोक मणि, सौरभ द्विवेदी

बुकमार्क

विनीत कुमार

कीवर्ड

रोहिन कुमार, रवि रतलामी

मूल्य : 80 रुपए डाक खर्च : 70 रुपए

अक्षर प्रकाशन प्रा. लि. 2/36, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

दूरभाष : 011-23270377, 41050047 ईमेल : editorhans@gmail.com वेबसाइट : www.hanshindimagazine.in